इतिहास लेखन की समस्याएँ

('हिन्दी साहित्य का आदिकाल' के संदर्भ में

एम. फिल. (हिन्दी) उपाधि के लिए प्रस्तुत लघु शोध–प्रबंध

शोध निर्देशक
प्रो. नामवर सिंह

शोधार्थी
मार्त्तण्ड प्रगल्भ

सह–शोध निर्देशक
प्रो. रामबक्ष जाट

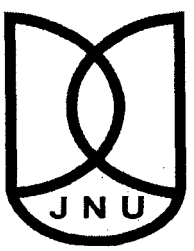

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली–110067

2011

JAWAHAR LAL NEHRU UNIVERSITY

Centre of Indian Languages

School of Language, Literature, & Culture Studies

NEW DELHI-110067, INDIA

Dated: 25/07/2011

DECLARATION

I declare that the work done in this dissertation entitled "ITIHAS LEKHAN KI SAMASYAYEN: 'HINDI SAHITY KA AADIKAAL' KE SANDARBH MEN" [PROBLEMS OF HISTORIOGRAPHY: IN REFERENCE TO 'HINDI SAHITYA KA AADIKAL'], by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/ Institution.

MARTAND PRAGALBHA

(Research Scholar)

PROF. NAMVAR SINGH

(Supervisor)

PROF. K. NACHIMUTHU

(Chairperson)

CIL/SLL&CS/JNU

PROF.RAMBUX JAT

(Co-Supervisor)

समर्पण

स्व. दादा जी को जिन्होंने मेरे अंतर को रूप दिया...

मनी को हमारी शादी की पहली सालगिरह पर...

अनुक्रमणिका

भूमिका 3

आभार 5

१.साहित्य के इतिहास पर पुनर्विचार 7

२.'हिंदी साहित्य का आदिकाल' और इतिहास-लेखन की समस्याएं 46

२.१ आरम्भ: क्या है आरम्भ

२.२ भाषा और साहित्य का सम्बन्ध: उत्ति विसेसा कब्बो भाषा जा होई सा होदु

२.३ एक बड़े आलोक की संभावना: देशीभाषा-साहित्य के आरंभिक रूपों की खोज

३. आचार्य द्विवेदी की इतिहास-दृष्टि और हिंदी साहित्य का आदिकाल 91

३.१ मध्यकालीन बोध का स्वरुप और हिंदी साहित्य का आदिकाल

३.२ राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन से मुक्ति का प्रयास: लोक और शास्त्र का द्वंद्व

३.३ कथा, आख्यायिका और एतिहासिक चरित काव्य: काव्य की संरचना और काल की बुनावट

४. उपसंहार 124

५. ग्रन्थ सूची 128

भूमिका

हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखन की समस्यायों पर विद्वानों ने समय-समय पर अपने विचार रखे हैं| परन्तु समस्या निरूपण का ढांचा एक निश्चित सीमा के अंदर ही बद्ध रहा है| ज़्यादातर बहसों के केंद्र में नामकरण की समस्या और कालनिर्धारण की समस्या ही रही चली आयी है| लेकिन जैसा कि नामवर जी ने कभी लिखा था कि ये सब इतिहास का बाहरी ढांचा है, ठेठ इतिहास की समस्याएं नहीं हैं| इतिहास खुद में एक नयी व्याख्या है| और नयी इतिहास दृष्टि के अभाव में यह नयी व्याख्या संभव नहीं| और नयी इतिहास दृष्टि हमेशा समकालीनता की चुनौती से दो-चार करते हुए ही हासिल होती है|

हिंदी साहित्य के आदिकाल पर चर्चाएं पाठ्यक्रम के बाहर कम ही होती हैं| और जो होती है वह भी सूचनाओं को रटने से ज्यादा नहीं है| किस-किस विद्वान ने 'आदिकाल' को किस-किस नाम से अभिहित किया है, रासो ग्रंथों के रचयिता कौन हैं, मुख्य प्रवृतियाँ क्या हैं जैसे प्रश्नों के बने-बनाए उत्तर हम परीक्षा भवन में 'उगलते' रहे हैं| हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं में साहित्य का लिखा जाना एक बड़ी ऐतिहासिक घटना थी, इसे कभी समझाने की कोशिश ही नहीं होती है|

'भक्तिकाल' के अदम्य आकर्षण के कारण 'आदिकाल' की चर्चा थोड़ी उपेक्षित सी रही आयी है| ऐसा कह कर मैं 'भक्ति-काल' के महत्व को कम नहीं कर रहा बल्कि इतिहास-लेखन की एक सामान्य प्रवृत्ति की ओर इशारा कर रहा हूँ| 'स्वतंत्रता' के आस-पास भाषाओं के इतिहासों का नया उभार आया था| हर आधुनिक भारतीय भाषा अपनी जड़ों को ढूंढती हुई प्राकृत-अपभ्रंश तक पहुंच रही थी| खुद को प्राचीनतर सिद्ध करने के दावे भी थे| साथ-साथ नए 'राष्ट्र' को बहुभाषी 'राष्ट्रीयताओं' का एक 'संघ' भी बनाना था| ऎसी स्थिति में 'भाषाओं' के इतिहास और उनमें लिखे साहित्य और उस साहित्य के 'राष्ट्रीय' चरित्र पर बहुत सारी चर्चाएं हुईं| इसी क्रम में हिन्दी साहित्य के आदिकाल पर भी शोध हुए| हिंदी के 'राष्ट्रभाषा' होने को लेकर अन्य 'भाषाओं' की अस्मिता की राजनीति भी शुरू हुई| इस प्रकार के माहौल में ही उस वक्त का

'इतिहास-लेखन' रूप ग्रहण कर रहा था| इस इतिहास-लेखन को और इतिहास-दृष्टि को आगे चल कर क्लिफोर्ड ग्रीत्ज़ जैसे सिद्धांतकारों के द्वारा प्रचारित 'आदिम भाषावाद' ने भी बहुत प्रभावित किया था| संस्कृति और भाषा के संबंधों को इतिहास में 'राष्ट्र-राज्य' की अवधारणा और उसकी राजनीति के चश्मों से देखा गया था|

भाषा,संस्कृति,साहित्य और राष्ट्र संबंधी चिंतन में पिछले कुछ समय में जो परिवर्तन हुए हैं उसने संस्कृति और उसके स्वरुप के पुराने सिद्धांतों पर कुछ मूलभूत प्रश्न खड़े कर दिए हैं| ऐतिहासिक परिवर्तनों की व्याख्या भी नए आधारों की तलाश कर रही है| ऐसे में साहित्य-इतिहास पर भी पुनर्विचार की ज़रूरत महसूस की जा रही है| इस लघु-शोध प्रबंध का पहला अध्याय इन परिवर्तनों के साथ साहित्येतिहास लेखन पर पुनर्विचार के विभिन्न आयामों को रेखांकित करने का प्रयास है| इसे इस लंबे निबंध की लंबी भूमिका के बतौर ही लिखा गया है|

दूसरा और तीसरा अध्याय मुख्य रूप से 'आदिकाल' और आचार्य द्विवेदी की इतिहास दृष्टि पर केंद्रित है| इन अध्यायों में पुराने इतिहास लेखन की समस्याओं को चिह्नित किया गया है| द्विवेदी जी के इतिहास-लेखन की मौलिक अंतर्दृष्टि और उनकी सीमाओं की चर्चा करते हुए इतिहास-लेखन की चुनौतियों को समझने का प्रयास है| काल-निर्धारण और नामकरण की समस्याओं पर सीधे-सीधे कहीं बात नहीं की गयी है| ये दोनों इतिहास संबंधी मूलभूत धारणाओं से ही तय होते हैं, इसलिए चर्चा को 'इतिहास' की 'धारणा' पर ही केंद्रित रखने का प्रयास है|

आचार्य द्विवेदी के बहाने इतिहास-लेखन पर कुछ काम करना है, ये तो एम.ए. करते हुए कई बार सोचा था| परन्तु ये काम नामवर जी के ही निर्देशन में होगा, यह न सोच पाया था| 'इतिहास की शव साधना' के कच्चे साधक को एक सिद्ध-गुरु का निर्देशन मिलना कितना बड़ा सौभाग्य है! उस जीवित परम्परा के यथा-संभव निर्वहन के संकल्प के साथ...

२२/०७/२०११. मार्त्तण्ड प्रगल्भ.

जे.एन.यू, नई दिल्ली

आभार

इतिहास के वास्तविक निर्माताओं को ... जिनका इतिहास अभी भी लिखा जाना है...

स्व. दादा जी को ...जिनकी 'त्रिवेणी', 'हिंदी शब्दानुशासन' और आचार्य शुक्ल का इतिहास अभी भी मेरे साथ है|...जिन्होंने पहली बार मुझे डाँटा था जब मैं संघ की एक शाखा में शाम को जाने लगा था...जिनका 'नास्तिक' होना हमारे घर-पड़ोस के लिए हमेशा एक कुतूहल रहा...

दादी को... गोदान पढ़ते हुए जब-जब धनिया का जिक्र आता है उनका चेहरा मेरे दिमाग में घूम जाता है...

मम्मी-पापा को ...

प्रत्युष को...घर के बाकी लोगों को... बाढ़ के पुराने दिनों को...संगी-साथियों को...जिनसे मेरा बचपन बना है...

जे.एन.यू. के दोस्तों को... आइसा के साथियों को...

अखिल,अभिषेक,शेफा को...उदय,उस्मान,बृजेश को...संदीप,सुचेता,विस्मय को... रवीश,धीरज दा को... आशुतोष,अनूप,अकबर को...दीक्षा,शकील,विशाल,विक्रम को...अनसूआ...असीत को

रवि को...दिग्विजय को...संदीप सौरभ और पीयूष को ...श्वेता,शिवानी,आर्द्रा को...अरुंधती,गजाला,सुनीता को...पल्लवी,राजन को...नीरज,जीतू,बीरेन्द्र को...अनुभूति को...

अमिष,दीना,अनिल को...मुकेश,उमा,विकास को...वरुण,आशीष,पीयूष को...

तापस दा और कविता जी को...प्रणय दा,आशुतोष और गोपाल दा को...उन सब को...

जिनसे 'ज़िंदगी में मानी पैदा होते हैं'...और मनी को जो मैं हूँ...मैं हूँ जो मनी है...

जे.एन.यू. को...उसकी लाइब्रेरी को... उसके कर्मचारियों को...ढाबों को...उसकी एक 'प्रति-संस्कृति' को...

तलवार जी को...अग्रवाल सर को...और भारतीय भाषा केंद्र के अन्य सभी अध्यापकों को... रावत जी और दुलारे को...शमसेर जो दुर्भाग्य से अब हमारे साथ नहीं रहे, उनको...

रामबक्ष सर को ...जिन्होंने अपनी बीमारी के बावजूद हम सब का ख्याल रखा...

और अंत में उस आकाशधर्मा गुरु नामवर जी को... जिनको ही पढ़-गुन कर 'साहित्य' और 'इतिहास' को समझा है...जो हमेशा ही प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से निर्देश देते और चुनौती पेश करते रहे हैं|

अध्याय १

साहित्य के इतिहास पर पुनर्विचार

साहित्य का इतिहास अंततोगत्वा इतिहास ही होगा,साहित्य नहीं|

-हजारीप्रसाद द्विवेदी[1]

इतिहास एक आख्यानात्मक विमर्श है जिसकी अंतर्वस्तु जितनी वस्तुतः प्राप्त है उतनी ही काल्पनिक या आविष्कृत|

-हेडेन व्हाइट[2]

पिछली सदी के आखिरी दशक में इतिहास मात्र पर अनेक प्रश्न उठाये गए थे| दुनिया के एक कोने से इतिहास के अंत की जो घोषनाएं हुईं , उसकी प्रतिध्वनियाँ जल्द ही हर जगह सुनाई देने लगी| कारण था सोवियत रूस में समाजवादी व्यवस्था का का पतन| समाजवाद के अंत की घोषणाओं के साथ इतिहास के अंत की भी घोषणा हो जाये यह लाजिम भी था| इतिहास पर यह हमला पहली बार नहीं हुआ था| इतिहास के अंत की घोषणाएँ मार्क्स से पहले भी हुई थी, मार्क्स के समय में भी हुई और उसके बाद भी कई बार हुई| इतिहास की प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने हर संक्रमण और संकट के मौकों पर इतिहास के पराजय और हार की घोषणाएं की हैं| सन्दर्भ के रूप में मार्क्स का उल्लेख इसलिए कर रहा हूँ क्योंकि इतिहास और

---

[1] हजारी प्रसाद द्विवेदी. 'साहित्य का इतिहास', *ग्रंथावली खंड-१०*, संपादक-मुकुंद द्विवेदी. पृष्ठ-१०७.राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली:२००७.

[2] हेडन व्हाइट,'द पोलिटिक्स ऑफ हिस्टोरिकल इंटरप्रेटेशन: डिसिप्लिन एंड डी-सब्लिमेशन', *द कंटेंट ऑफ द फॉर्म* में, पृष्ठ-८१. बाल्टीमोर ,जान होपकिंस यूनिवर्सिटी प्रेस ,१९८७.

मार्क्सवाद के संबंधों पर ही ज्यादा विचार किया गया था| इतिहास की पराजय का जश्न दरअसल एक विचारधारा और प्रैक्सिस के रूप में मार्क्सवाद की पराजय का जश्न था| जश्न मनाने वालों ने सोवियत समाजवाद के अंतर्विरोधों को मार्क्सवाद की असफलता के रूप में प्रचारित किया और 'अनिर्दिष्ट भविष्य' में साम्राजवादी हितों का रास्ता साफ़ किया| क्या ही संयोग था कि एक ओर लेनिन कि मूर्ति गिरायी जा रही थी तो दूसरी ओर कुछ ही समय बाद अयोध्या में चार सौ साल पुरानी बाबरी मस्जिद ढाही जा रही थी| यह इतिहास पर हमला था | हमले के कई रूप थे लेकिन शायद अंतर्वस्तु एक ही थी| यह अंतर्वस्तु नवउपनिवेशवाद और वित्तीय आवारा पूंजी के तर्क की थी| आज करीब बीस वर्षों बाद फिर से दुनिया भर में साम्राज्यवाद विरोधी मुहिम तेज है| फिर से एक बार इतिहास पर बहसों का नया दौर चल रहा है| नए सिरे छोटे छोटे संघर्ष अपनी एकता के लिए प्रतिबद्ध हो रहे हैं| इतिहास फिर से पूंजीवाद के आंतरिक अंतर्विरोधों को बेनकाब कर रहा है| ऐसे में क्या साहित्य के इतिहास पर भी पुनर्विचार ज़रूरी नहीं!

साहित्य इतिहास लेखन की दो मुख्य समस्याओं की ओर ध्यान दिलाते हुए डेविड पर्किन्स ने लिखा है कि पहली समस्या तो फॉर्म की ही है| क्या कोई ऐसा फॉर्म संभव है कि जिसमे इस विषय के असमाधेय अंतर्विरोधों का प्रबंधन हो सके ,उसकी एक मुकम्मिल संरचना तैयार की जा सके और उसे बेहतर ढंग से प्रस्तुत किया जा सके? और दूसरी बात ,क्यों साहित्य के विकास की व्याख्याएं असफल होने को अभिशप्त हैं?[1]दोनों समस्याएं एक लिहाज से इस समस्या से जुड़ी हैं कि किसी भी नैरेटिव फॉर्म में क्या साहित्य के क्रमिक विकास की व्याख्या की जा सकती है? इस प्रश्न के भी मूल में दो भिन्न लेकिन परस्पर सम्बंधित अवाधारणाएं बहस की मुब्तिला हैं| पहली कि इतिहास और नैरेटिव का रिश्ता क्या है, और क्या साहित्य या किसी भी कला के इतिहास में क्रमिक विकास कि अवधारणा ही काम करती है? इन दोनों प्रश्नों की पड़ताल के पहले हमें इतिहास बोध के निर्माण और उसके इतिहास पर थोड़ी चर्चा ज़रूरी लगती है| यह चर्चा इसलिए भी ज़रूरी है कि जिसे अंग्रेजी में 'हिस्टोरिओग्राफी' कहते हैं या

---

[1] देखें डेविड पर्किन्स, *इज लिटररी हिस्टरी पासिबल, भूमिका.* द जॉन हापकिंस यूनिवर्सिटी प्रेस ,बाल्टीमोर एंड लन्दन:१९९२

जिसे आगे इस अध्याय में 'इतिहासकारी' कहा जाएगा,उसका स्वरुप भी हमेशा बदलता रहा है| इतिहासकारी खुद एक विचारधारात्मक कर्म है| विचारधारात्मक होने के नाते इसके निहित उद्देश्य भी कहीं न कहीं राजनीतिक महत्व रखते हैं| अगर राजनीतिक शब्द से ऐतराज़ हो तो भी इसे ठेठ मार्क्सवादी अर्थ में किसी मिथ्या चेतना की अभिव्यक्ति ही मानें| हिंदुस्तान में इतिहासकारी की शुरुआत औपनिवेशिक दौर में हुई थी इसलिए भी इसकी आतंरिक निर्मितियां अंतर्विरोधों से भरी थीं| यह इतिहास से बेदखल लोगों की अस्मिता के निर्माण के प्रयास से जुड़ी है| इन प्रयासों कि सबसे बड़ी दुविधा तो यह थी कि जो यह पाना चाहते थे और जिसके सहारे पाना चाहते थे दोनों ही एक तरह से प्राच्यवादी निर्मितियाँ थीं| साहित्य-इतिहास लेखन की शुरुआत भी इस समस्या से मुक्त नहीं हो सकती थी भले ही शुक्ल जी के रूप में उसे एक ज़बरदस्त इतिहासकार मिला था| हाँ औपनिवेशिक ज्ञान-मीमांसा का राष्ट्रवादी उत्तर यहाँ ज्यादा प्रखर था क्योंकि साहित्य के इतिहास की कुछ अपनी विशिष्टताएं इसे समाजविज्ञान के दूसरे प्रारूपों से कुछ बेहतर सहूलियतें मुहैय्या कराती हैं| यह अकारण नहीं है कि उत्तरौपनिवेशिक आलोचना और इतिहासकारी साहित्यिक भाष्यों के सहारे अतीत की पुनर्निर्मितियों को महत्व दे रहा है| बहरहाल इस विषय में विस्तृत चर्चा इसी अध्याय में और एक तरह से आगे के अध्यायों में भी वक्त-बे-वक्त होती ही रहेगी|

एक विधा रूप में साहित्य- इतिहास को उन्नीसवीं सदी के पहले पचहत्तर वर्षों में खासी लोकप्रियता मिली थी और उस पर कोई भी सवाल नहीं उठाया गया था| ये इतिहास तीन तरह की मान्यताओं पर लिखे गए थे-साहित्यिक कृतियाँ अपने ऐतिहासिक संदर्भों में ही बनी थी; साहित्य में परिवर्तन क्रमिक विकास (developmentally)के रूप में होता है; और यह परिवर्तन किसी विचार,मूल्य या अधिवैयक्तिक इयत्ता (suprapersonal) का प्रकट होना है|[1] विकासात्मक इतिहास इस समझदारी के तहत काम करता था कि घटनाओं में परिवर्तन पूर्वापर होता है. हर घटना का कारण और सन्दर्भ उसके पहले की घटना है| किसी रचना को

---

[1] वही , पृष्ठ -२ और ३

जिस ऐतिहासिक सन्दर्भ में देखा जाता था उसके बारे में यह मान के चला जाता था कि वह सन्दर्भ रचना के साथ-साथ मौजूद था या ठीक उसके पहले था| मनुष्य के जीवन का रूपक इतिहासों का लोकप्रिय पैटर्न बनाता था जहाँ मनुष्य के जन्म ,यौवन और मृत्यु की तरह किसी अधिवैक्तिक इयत्ता ,जैसे कोई विधा मसलन कविता या किसी युग कि चेतना (स्पिरिट) मसलन रोमैन्टीसिज़्म या किसी जाति, क्षेत्र अथवा राष्ट्र की चेतना का भी साहित्य में उसी तरीके से प्रतिबिम्बन होना मान लिया जाता था| दिल्थे इन अधिवैक्तिक इयत्ताओं को 'आदर्श इकाई' या 'तार्किक विषय' कहता था| राष्ट्र ,धर्म या वर्ग उसके लिए ऐसे ही तार्किक विषय थे| साहित्य के इतिहास में इन विषयों कि पड़ताल ही उनका ध्येय था| ऐसा नहीं था कि केवल साहित्य के इतिहासकार ही ऐसा कर रहे थे| आमतौर पर पूरे इतिहासलेखन का स्वरुप यही था| इतिहासकार किसी उपन्यास के पात्रों कि तरह इन आदर्श इकाइयों 'को ट्रीट करते थे| इस नैरेटिव की संरचना को पाल रिकर ने 'क ,ख करता है' के आधारभूत वाक्य विन्यास के रूप में समझाने की कोशिश की है|[1] इस तरह का साहित्येतिहास भी अन्य इतिहासों की तरह प्रयोजनवादी (teleological) हो गया था| इन इतिहासों में साहित्यिक कृतियों का अध्यन ये पता लगाने में किया जाता था कि वे किसी जाति या राष्ट्र के विकास को कैसे व्यक्त करती हैं| कौन-कौन से मूल्य या नैतिक मान्यताएं किसी समय के साहित्य में व्यक्त हुई हैं| साहित्य का विकास कैसे लगातार एक उच्चतर नैतिक मान्यता या जाति की सापेक्षिक श्रेष्ठता को ही अभिव्यक्त कर रही है, इसी को लक्ष्य कर के इतिहास लिखे गए| कलाकृति का खुद भी कोई सौन्दर्यात्मक मूल्य हो सकता है इस ओर ज़्यादा ध्यान शुरू में नहीं दिया गया| लेकिन जल्द ही कला के शाश्वत मूल्यों की खोज भी इतिहास का प्रिय विषय हो गयी और उन्नीसवीं सदी के इन्हीं वर्षों में साहित्येतिहास की दो अतिओं के भी दर्शन हुए| आर्नल्ड हाउजर ने अपने 'कला का इतिहास दर्शन' में बताया है कि रोमांसवाद में उत्पन्न वैयक्तिकता के प्रति हमें एक आत्मविरोधी,द्विधाग्रस्त दृष्टिकोण मिलता है ,जिसकी सबसे अच्छी अभिव्यक्ति इतिहासवादी

---

[1] वही.पृष्ठ-३

दर्शन में होतीहै|[1]एक तरफ पहले के किसी भी युग की बनिस्बत इस पीढ़ी का कलाकार अपने व्यक्तिगत उत्पाद के अचूक और सतुलनीय होने में दृढ़ विश्वास रखता था दूसरी ओर अपने आत्मनिर्णय के बारे में अत्यधिक शंकालु भी था| इतिहासवादी दर्शन सभी ऐतिहासिक घटनाओं के अद्वितीय और आवृत्तिहीन चरित्र कि बात करता है और साथ में यह भी दावा करता है कि वे सब किसी अतिमानवीय और कालातीत सिद्धांत के प्रत्यक्षीकरण हैं| इस दर्शन की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति हीगेल में हुई थी| इतिहासवाद पर अलग से भी कुछ चर्चा आगे की जाएगी,फिलहाल आर्नल्ड हाउजर के ही शब्दों में ,

> "इतिहासवाद वास्तव में एक प्रतिक्रियावादी दर्शन है , जो मुक्त व्यक्ति के स्वेच्छाचार को क्रांति के परिणामों के लिए ज़िम्मेदार ठहरता है, लेकिन ज्ञानोदय और क्रांति के युग की दूरगामी उपलब्धि के बतौर स्थापित व्यक्तिवाद को भी पकड़े रहता है| यह प्रत्येक ऐतिहासिक घटना को किसी अतिवैयक्तिक–आदर्श, दैवी या आदिम –स्रोत से संदर्भित करने की रहस्यवादी पद्धति अख्तियार करता है, परन्तु इसीके साथ वैयक्तिकरण के तत्त्व भी जोड़ देता है जो ऐतिहासिक संरचनाओं को न केवल अनूठा बल्कि अतुलनीय भी बना देता है और निष्कर्ष निकालता है कि प्रत्येक ऐतिहासिक उपलब्धि और समानत: प्रत्येक कला शैली को उसके अपने स्वीकृत मानदंडों पर ही नापा जाना चाहिए|" [2]

आगे वह इस दृष्टिकोण के दोनों छोरों के प्रतिनिधि के बतौर एलआईस रीगल , जो अपने 'कलात्मक अभिप्राय' के सिद्धांत के साथ कलात्मक उपलब्धियों को पूर्णतः अद्वितीय और अतुलनीय मानता है और हाइनरिह वोल्फ्लिन, जो अपने 'बिना नाम के कला इतिहास' के सिद्धांत के साथ इतिहास में एक कलाकार की एजेंसी का निषेध कर देता है, को उदहारण के बतौर लेते हैं| ध्यान देने कि बात है कि हिन्दी साहित्य का इतिहास अपने आरम्भ के साथ ही इन दो अतियों से मुक्त था|

---

[1] आर्नल्ड हाउजर, *कला का इतिहास दर्शन*, अनु. गोपाल प्रधान;पृष्ठ -११३-११४;ग्रन्थ शिल्पी-दिल्ली ,२००१.
[2] वही,११४

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में मार्क्सवाद के रूप में हमें इतिहास का एक नया दृष्टिकोण मिला जो इतिहास की हीगेलियन अंतर्वस्तु में एक रेडिकल परिवर्तन लाता है| अब तक इतिहास में परिवर्तनों को भावना और बुद्धि की द्वंद्वात्मकता के सहारे ही समझने की कोशिशें की जा रही थीं| मार्क्स ने उन परिवर्तनों के वास्तविक आधारों को मानव समाज के भीतर के उत्पादन संबंधों में ढूंढ निकाला| द्वंद्वात्मक भौतिकवाद ने भाववाद और रूपवाद पर गहरा आघात किया| एक तरीके से मार्क्स ने दर्शन की जगह जर्मन परंपरा के 'विशेनशाफ्त' या जिसका अंग्रेजी अनुवाद 'साइंस' किया जाता है ,उसको प्रतिष्ठित करने की कोशिश की थी| सरल शब्दों में कहें तो मार्क्स ने इतिहास और विचारधारा को ठोस वस्तुगत यथार्थ के रूप में समझाने की कोशिश की|

मार्क्सवादी परंपरा में साहित्य को विचारधारा के बतौर समझा गया है| कहने का मतलब यह है की इसे आधार और अधिरचना के विवाद में लोकेट करने की कोशिश हुई है| अधिरचना या साहित्य के सम्बन्ध में कोई ठोस चिंतन मार्क्स और एंगल्स के यहाँ नहीं किया गया है| 'राजनैतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान' की भूमिका में और 'जर्मन आइडिओलॉजी' में इस सम्बन्ध में कुछ विचार मिलते हैं तथा साहित्य सम्बन्धी चिंतन कुछ-एक पत्रों में बिखरे पड़े हैं| इन्ही के आधार पर मार्क्स और एंगल्स के सहित्य सम्बन्धी विचारों का एक खाका हमें मिलता है| मार्क्स के विचारों के निर्माण में साहित्य की भूमिका को कई मार्क्सवादी चिंतकों ने दिखाया है| हिंदी में नामवर सिंह ने दिखाया है कि मार्क्स के विचारों के उत्स एक ओर तो जर्मन दर्शन और ब्रिटिश शास्त्रीय अर्थशास्त्र और फ्रेंच समाजविज्ञान में है दूसरी ओर ग्रीक और लैटिन साहित्य में भी है| यह अकारण नहीं है कि युवा मार्क्स ने एसकुलस के नाटकों पर काम किया था| कहना न होगा की मार्क्सवाद में साहित्य को एक लिहाज़ से गैरज़रूरी कभी नहीं माना गया है| दर्शन, क़ानून और साहित्य और कला जैसे विचारधारात्मक अवयव किसी समाज में अधिरचना का निर्माण करते हैं| ये समाज के उत्पादन संबंधों के द्वारा बने आधार को ही प्रतिबिंबित करते हैं| प्रतिबिंबित करते हैं से ये न समझना चाहिए की वह कोई प्रतिबिम्बवाद का समर्थन कर रहा है, जैसा की साहित्य समाज का दर्पण है, कहने से भान

होता है| लेकिन यह भी सच है की इस प्रतिबिम्बवाद को लेकर भी मार्क्सवादी साहित्य चिंतन में बहुत खींच-तान हुई है और इसके केंद्र में कोई और नहीं खुद मार्क्स के सहयोगी एंगल्स ही हैं| परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि एंगल्स भी ऐतिहासिक विकास में व्यक्तित्व की रचनात्मक ऊर्जा और क्रिया को असाधारण ढंग से महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान करता है| अधिरचना के सापेक्षिक स्वायत्तता को ही केवल मार्क्स ने स्वीकार नहीं किया था वरन रचनात्मक क्रियाओं को मनुष्य द्वारा खुद अपने निर्माण की या मानवीय श्रम के ज़रिये मनुष्य के रूप में निर्माण प्रक्रिया की अभिव्यक्ति माना था| हालांकि इस विकास का स्वरुप, उसकी क्षमता और उसका स्तर वस्तुगत, प्राकृतिक और सामाजिक स्थितियों से निर्धारित होते हैं| साहित्य के इतिहास में विचारधारात्मक कारकों के प्रवेश का मसला और भी स्पष्ट रूप में अपनी समस्या से हमें रूबरू करता है जब हम व्यापक कला इतिहास पर चर्चा करते हैं| क्या कारण है कि एक ही युग में भिन्न-भिन्न कलाएं शैलीगत रूप से भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में होती हैं? ऐसा भी देखा गया है कि कोई शैली या प्रवृत्ति कला के एक माध्यम में दूसरी कि अपेक्षा देर तक जारी रहती है या कोई कला बाक़ी अन्य कलाओं से पिछड़ी हुई मालूम पड़ती है| कहने का मतलब यह है कि केवल युगीन विचारधारा के प्रभाव रूप में साहित्य और कलाओं के इतिहास कि व्याख्या ग़लत है| सभ्यता कि एक अवस्था में सामाजिक परिस्थितियां कभी समान नहीं होती है| वो इस हद तक कभी समरूप नहीं होती कि किसी भी विचारधारात्मक एकरूपता को हम कलाओं और साहित्य कि व्याख्या का आधार बना लें| उदाहरण के लिए जिसे हिंदी साहित्य का रीतिकाल कहा जाता है और साहित्य के दृष्टिकोण से पतनशील सामंती –दरबारी संस्कृति की अभिव्यक्ति के रूप में व्याख्यायित होता आया है; उस वक्त को हम हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के दृष्टिकोण से काफी महत्वपूर्ण मानते हैं!

मार्क्सवादी कला और साहित्य चिंतन ने साहित्य और अन्य रचनात्मक कार्यों का मानवीय अस्तित्व से बुनियादी सम्बन्ध दिखा कर रचनात्मकता के चारों ओर पड़ी उस रहस्यात्मक धुंध को छिन्न-भिन्न कर दिया जो इस तरह के कार्यों को किसी दैवीय या अधिभौतिक सत्ता की अभिव्यक्ति मानते थे और उसकी व्याख्या को कभी असम्भाव्य और

अनैतिहासिक बताया करते थे| यह प्लेटो से लेकर हीगेल तक कि पूरी परंपरा को भी एक जवाब था और दूसरी ओर अरस्तु के अनुकरण की भी सार्थक आलोचना थी| मार्क्सवादी साहित्य सिद्धांतों ने साहित्य और रचनात्मकता के कई अव्याख्येय प्रसंगों की सार्थक पहचान की थी| इस पहचान में उन प्रश्नों का उत्तर ढूंढना भी शामिल था मसलन मार्क्स ने यह सवाल उठाया था कि हमें प्राचीन ग्रीक कलाएं आज भी पसंद क्यों आती हैं| ये प्राचीन कलाएं तो मानव समाज की एक अविकसित अवस्था के भीतर से पैदा हुई थी,फिर भी इतनी उन्नत क्यों लगती है? इस सवाल का जो जवाब मार्क्स ने दिया था यद्यपि वह पूरी तरह सही नहीं माना जा सकता है, फिर भी यह प्रश्न महत्वपूर्ण है| मार्क्स ने बाल्जाक के सन्दर्भ में और लेनिन ने तोलस्त्वाय के बारे में जो समझदारी हमारे सामने रखी थी उसकी प्रासंगिकता अभी भी निःसंदेह बहुत महत्वपूर्ण है| यही नहीं आगे भी मार्क्सवादी विचारकों ने साहित्य के सम्बन्ध में जो चिंतन किया उसने लगातार रचना के नितांत व्यक्तिवादी और रूपवाद आग्रही दृष्टियों को चुनौती दी| हालाँकि इस क्रम में कई बार मार्क्सवादी धारा के भीतर समकालीन रचनाशीलता को लेकर खासा विवाद भी चलता रहा| चाहे वह पश्चिम में लुकाच और ब्रेष्ट के बीच हो या फिर हिंदी में रामविलास शर्मा और नामवरसिंह के बीच हो| पहले सन्दर्भ के केंद्र में काफ्का थे दूसरे में मुक्तिबोध| ऐसी ही बहसों से मार्क्सवादी साहित्यालोचना निरंतर विकसित होती रही है|

समकालीन रचनाशीलता की समझदारी का सवाल एक तरीके से इतिहास की समझदारी को भी चुनौती देती आयी है| एक समय नामवर सिंह ने सही ही कहा था कि इतिहास कि समस्या मूलतः आलोचना की समस्या ही है| और आलोचना हमेशा अपने समकालीन रचनाओं के साथ संवाद में ही विकसित होती है| तो आलोचना और इतिहास दोनों ही के लिए चुनौती हमेशा रचनाओं की तरफ से आती है| लेकिन एक खास दौर के बाद उन रचनाओं के आस-पास आलोचना और इतिहास एक आवरण बना लेते हैं| तब रचनाओं तक हमारी पहुँच उनकी आलोचनाओं और इतिहास के भीतर से ही हो पाती है| इसीलिए रचना का पुनर्पाठ किसी शून्य में न होकर एक प्राप्त सन्दर्भ में ही हो सकता है| साहित्य का इतिहास इसलिए एक दुहरी चुनौती है| पहले तो रचना तक पहुँचने की चुनौती फिर उस रचना के पाठ

की चुनौती| फिर उसके बाद एक नैरेटिव में उसकी मुकम्मिल जगह देने की चुनौती| मार्क्सवादी कला और साहित्य चिंतन ने साहित्य के इतिहास को साहित्य के समाजशास्त्र और साहित्य की सापेक्षिक स्वायत्ता के साथ-साथ देखने की बात लगातार की है.[1] लेकिन अगर इतिहास की उस समझदारी पर ही सवाल उठाया जाने लगे जिसे मार्क्स ने व्यक्त किया था, तो प्रश्न गंभीर हो जाता है| इसलिए एक विधि के रूप में मार्क्सवाद से प्राप्त अंतर्दृष्टि का उपयोग इतिहास के किस नैरेटिव में किया जाए यह एक बड़ी समस्या बन जाती है| कहने का मतलब यह है कि इतिहास को संक्रमण के रूप में लेने वाले मार्क्सवादी नैरेटिव पर जो प्रश्न खड़े किये गए हैं उन पर विस्तार से बातचीत किये बिना हम साहित्येतिहास की समस्याओं को सही जगह लोकेट नहीं कर पाएँगे| हिंदी साहित्येतिहास की जो नयी दृष्टि ५० के दशक में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के रूप में पहचानी गयी थी ,उसमे एक नयी समस्या समकालीन चिंतन ने खड़ी कर दी है| समस्या इतिहास के व्यापक विकास के क्रमों, अर्थात आदिम साम्यवाद से दास्ययुग फिर उससे सामंतवाद फिर उससे पूंजीवाद के संक्रमण के रूप में इतिहास की teleology, को सत्य मान के चलने को एक मिथ्याचेतना करार दिया गया है| खास कर गैरपश्चिमी समाजों के इतिहास के संदर्भ में| अगर साहित्य एक सचेत मानवीय प्रयास है तो इसके पीछे काम करने वाले, उस मानवीय श्रम को सीमित और प्रभावित करने वाले सामाजिक स्वरुप की यथेष्ट जानकारी के अभाव में साहित्य की हमारी समझदारी भी सीमित और कई बार गैरज़रूरी निष्कर्षों की तरफ ले जा सकती है| जिसे हम किसी समय का सामान्य इतिहास मानते हैं साहित्य केवल उससे नहीं बनता, साहित्य में साहित्यकार का व्यक्तिगत इतिहास भी शामिल होता है| इसलिए अतीत की व्याख्याओं के सामान्य इतिहास एक तो हमारी ज्यादा दूर तक मदद नहीं करते और दूसरी ओर अगर यह सामान्य इतिहास भी पश्चिमी प्रबोधन से निकला कोई आरोपित महाख्यान हो तो समस्या और भी गंभीर हो जाती है| इसलिए एक विधि या methodology के रूप में साहित्य की द्वंद्वात्मक भौतिकवादी व्याख्या को इसके ऐतिहासिक भौतिकवाद की

---

[1] देखें, मकस राफाएल, "मार्क्सवादी कला-सिद्धांत"; *कार्ल मार्क्स: कला और साहित्य चिंतन*; सम्पादक- नामवर सिंह, अनुवादक- गोरख पाण्डेय; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली:२००३.

सामान्य स्थापनाओं से थोड़ा अलग करके क्या देखा जा सकताहै? हिन्दी साहित्य के इतिहास पर पुनर्विचार का एक आयाम यह भी है| यह आयाम एक ओर तो हमें पश्चिमी समाजों या खास कर योरोपीय समाजों के ऐतिहासिक विकास की अवधारणाओं से मुक्त करता है दूसरी ओर द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की मूल स्थापनाओं से हमें समृद्ध भी करता है| आगे मैं दीपेश चक्रवर्ती के हवाले से इस विषय पर और बात करूँगा जिसे वह 'यूरोप का क्षेत्रीकरण'[1] कहते हैं| साथ ही साहित्य के इतिहासकारों और साहित्यकारों के इतिहास की समझदारी पर एक चर्चा रवीन्द्रनाथ के हवाले से करने की कोशिश होगी| इन चर्चाओं के माध्यम से हमें साहित्य के इतिहास की कुछ और जटिलता का अहसास होगा| हो सकता है हिंदी साहित्येतिहास लेखन का एक आयाम यहाँ से खुले|

कहना न होगा कि उन्नीसवीं शताब्दी का समय पश्चिम में राष्ट्र राज्यों के उदय का समय था| जाति, धर्म, प्रजाति, भाषा और साथ-साथ साहित्य के नए मानक तय हो रहे थे| सामुहिक पहचान के भिन्न आधारों की खोज हो रही थी| ज्ञान की भिन्न-भिन्न धाराओं में प्रबोधन युगीन चेतना का विकास हो रहा था| एक ओर साहित्य और संस्कृति की विशिष्टता को एक राष्ट्रीय चरित्र देने की कोशिशें की जा रही थीं दूसरी ओर वैज्ञानिक तर्कों के सहारे मानव जाति की मुक्ति की कल्पना संस्कृतियों के विज्ञानवाद को विकसित कर रही थी| यह 'विज्ञानवाद' सत्य को जानने का दावा करता था| और संस्कृतियों के इतिहास को भी जैविक विकास की डार्विनवादी परिकल्पना के अनुसार ढालने कि कोशिश कर रहा था| सामाजिक और वैचारिक परिवर्तनों की इस उथल पुथल के साथ ही इस पश्चिम ने दुनिया भर में अपने उपनिवेश भी बनाने शुरू किये| इन औपनिवेशिक शक्तियों के साथ एक भिन्न किस्म की विचारप्रणाली हमारे यहाँ भी आयी| उपनिवेशों के भीतर बनने वाला सामूहिक बोध उपनिवेशवाद की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप पैदा हुआ था| इस सामूहिक बोध की निर्मिति के लिए एक इतिहास बोध की भी ज़रूरत थी| उपनिवेशों के भीतर बनने वाला यह इतिहास बोध एक द्विधा का शिकार था| औपनिवेशिक ज्ञान मीमांसा ने भारतीय समाज की परंपरागत चेतना

---

[1] देखें,दीपेश चक्रबर्ती. *प्रोविन्सियलाइजिंग यूरोप*'; प्रिंसटन युनिवेर्सिटी प्रेस,न्यू जरसी :२०००

में एक विच्छेद पैदा किया था| वैसे यह परंपरागत विच्छेद जिसे पुरुषोत्तम अग्रवाल[1] पूरे भारतीय उपमहाद्वीप की अनिवार्यता बताते हैं, कोई विरोध-रहित घटना नहीं थी| लेकिन इतिहास बोध के जिस द्वैध की चर्चा ऊपर की गयी है उसमे परम्पराबोध के विचलनों को फिलहाल न भी शामिल करें तो भी यह तय है कि इस द्वैध ने हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के आभिजात्य नेतृत्व को लगातार परिचालित किया| आभिजात्य नेतृत्व के भीतर पैदा इस द्वैध की निर्मिति भी औपनिवेशिक खांचे के भीतर ही हुई थी| इसी आभिजात्य द्वैध को निर्मल वर्मा 'खंडित चेतना' कहते हैं| मैं इस खंडित चेतना को आभिजात्य कह रहा हूँ क्योंकि निर्मल की 'भारतीयता' जिस सांस्कृतिक चिंतन का परिणाम थी उसमे भारतीय समाज की विविधता को नकार कर भारत के अतीत के उच्च-पाठों के सहारे सेल्फ को पारिभाषित किया गया था, जो कि खुद ही एक औपनिवेशिक विरासत थी| क्योंकि निर्मल भी नेहरु की तरह भारत को खोजते हुए 'भारत के करीब पश्चिम के ज़रिये' आये थे, इसीलिए प्रेमचंद ने किसानों के उस 'आध्यात्मिक पतन' को नहीं देखा जिसे निर्मल ने देख लिया! दरअसल कोई 'आध्यात्मिक' पतन था भी तो वह राष्ट्र के आभिजात्य नेतृत्व का था जहाँ भगत सिंह और साथियों के फांसी दिए जाने पर केवल दु:ख व्यक्त किया जा सकता था! बहरहाल आभिजात्य इतिहास बोध का यह द्वैध हिन्दुस्तान की इतिहासकारी में भी प्रगट था| यह इतिहासकारी अपने राष्ट्र को परिभाषित करने की चेतना से संपन्न था| यह अकारण नहीं कि आचार्य शुक्ल के 'विरुद्धों के सामंजस्य' में और आचार्य द्विवेदी के 'समन्वय की चेतना' में राष्ट्रवादी चेतना की अनुगूँज सुनी जा सकती है| यह सामंजस्य और समन्वय कहीं-न-कहीं आभिजात्य राष्ट्रवाद की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति ही है|

राष्ट्रवादी इतिहास बोध की भी अलग-अलग परिणतियाँ थीं, और यह न समझा जाये कि रामचंद्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी का इतिहास बोध राष्ट्रवादी होने मात्र से एक ही था| यह तो तय ही है कि शुक्लजी ने अपने इतिहास के दूसरे संस्करण में प्रगतिशील लेखक संघ का नाम तक नहीं लिया और दूसरी ओर हजारी प्रसाद भारतीय अतीत में निम्नवर्गीय प्रसंगों के सहारे परम्पराबोध को समझने कि कोशिश में लगे थे| यह एक ऐसा दृष्टिभेद था जिसने दोनों

---

[1] देखें, पुरुषोत्तम अग्रवाल, *अकथ कहानी प्रेम की: कबीर की कविता और उनका समय.* भूमिका; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली:२००९

चिंतकों के साहित्य मूल्यांकन में आधारभूत अंतर पैदा किया| जिसे राष्ट्रवादी आभिजात्य द्वैध कहा जा रहा है उससे आचार्य शुक्ल का चिंतन उबर नहीं पाया था| और न ही उत्तरौपनिवेशिक निर्मल उससे बाहर निकल पाए| बाहर तो खैर प्रेमचंद और द्विवेदी भी नहीं थे, लेकिन बन रहे भारत से देशनिकाला प्राप्त वर्गों की आवाज़ इनके लेखन में स्वर पा रही थी| एक तरफ किसानों और दलितों की आवाज़ थी दूसरी ओर भारतीय अतीत के संश्लिष्ट चरित्र में निम्नवर्गीय चेतना का अन्वेषण था, मेलो-ठेलों के भारत की बहुरंगी और अनेकार्थ ध्वनियों को पकड़ने की कोशिश थी, और कोशिश थी बन रहे देश में उनके भी इतिहास को खोज निकालना| प्रेमचंद ने आभिजात्य द्वैध को अपनी सहज व्यंग-दृष्टि से बार-बार तार-तार किया और घोषित किया कि आने वाला ज़माना और इस महाजनी सभ्यता का भविष्य किसानों और मजदूरों के हाथों में ही है| दूसरी और द्विवेदी जी के 'कल्प कबीर' ने अपने विरोध के अपार साहस में वह आशा जगाई जो शास्त्रीय भारत के सपनों को चुनौती दे सके| लेकिन न तो प्रेमचंद गांधी के मोह से उबर सके और न ही द्विवेदी जी तुलसी के , और यह उनकी ऐतिहासिक सीमा थी कोई दोष नहीं|

आज जब इस आभिजात्य देश की तड़ीपार जनता अपने 'देस' को पाने की कोशिश में संघर्षरत है तो उसके सामने फिर से अपने अतीत को पाने कि ज़द्दोज़हद है| लेकिन यह अतीत पहले तो दो सौ सालों के औपनिवेशिक ऐन्द्रजालिक निर्मिति के भीतर विरूपित है और उस पर तथाकथित आज़ादी के बाद का साथ साल और| किसानों,दलितों ,मजदूरों, आदिवासिओं और महिलाओं का यह संघर्ष पुरानी इतिहासकारी से मुक्ति चाहता है| लेकिन मुक्ति के रास्ते इतिहास से ही निकलते हैं जो षड्यंत्रों से भरा पड़ा है| कहीं हमारी कोशिश किसी और षड़यंत्र का शिकार तो नहीं हो रही है? यही सवाल मुझे लगता है समकालीनता की सबसे बड़ी चुनौती है| हमारा वर्त्तमान साहित्य इसी चुनौती से रूबरू है| ऊपर से नव साम्राज्यवाद का तीव्र होता हमला हमारे संघर्षों को हरसूँ क़त्ल करने पर आमादा है| ऐसा लगता है 'जो कुछ भी ठोस था उड़ कर भाप बन गया है, जो कुछ पावन था वह भ्रष्ट हो गया है'| तब फिर क्या मार्क्स के शब्दों में आखिरकार मनुष्य संजीदा नज़र से जीवन की वास्तविक परिस्थितियों को, मानव-मानव के आपसी संबंधों को देखने के लिए मजबूर नहीं हैं? हिंदी साहित्य के भीतर क्या यह संजीदा दृष्टि

है, क्या हमारी आलोचना इसे समझ पा रही है, क्या समीक्षा कोई दृष्टि विकसित कर पा रही है जो उन ठोस 'यथार्थों' को समझने मे मदद करे और रचना को एक रास्ता दिखा सके, क्या विमर्श के घटाटोप के कारण रचना अपने स्वाभाविक स्वरुप से कोई समझौता कर रही है, क्या विमर्श की भाषा से रचनाएँ समृद्ध हो रही है, या यह भाषा रचना को उसके सत्य तक पहुँचाने में खुद रूकावट बनती जा रही है, क्या काल से होड़ लेनेवाली रचना कालबद्ध विमर्शों से परे किसी और सत्य की ओर इशारा कर रही है ? ऐसे ही कुछ प्रश्न साहित्य के इतिहास पर पुनर्विचार की ज़रूरत को एक और आयाम देते हैं|

अस्मिताओं की अपनी अभिव्यक्ति की दावेदारी इस दौर का नियामक परिदृश्य गढ़ती है. ये साहित्य में पहली बार अपने प्रतिनिधित्व का प्रश्न उठाते हैं| यहाँ 'अनुभूति की ईमानदारी' या 'अनुभूति की प्रामाणिकता' नहीं 'अनुभूति की दावेदारी' का प्रश्न केंद्र में है| अनुभूति की यह दावेदारी ही साहित्य के भीतर साहित्यपन की भी कसौटी बनाती है| प्रश्न यह है कि अनुभूति की दावेदारी और उसकी साहित्य में अभिव्यक्ति क्या एक ही चीज़ हैं या दोनों के बीच का अंतर महज़ एक धोखा है? काफी पहले संतों ने अपनी अनुभूति की दावेदारी का ऐसा ही प्रश्न उठाया था| इस दावेदारी में उनका अनुभव सच ही अनभै सच हो गया था| भयरहित इस सच का सहज अनुभूति से जो रिश्ता था वह शास्त्रीय विमर्श का मुहताज नहीं था| इसने खुद एक ज्ञानमीमांसा विकसित की थी जिसे कोई चाहे तो नामवरसिंह के शब्दों में 'अनुभवसम्मत विवेकवाद' कह सकता है| क्या दलित और स्त्री लेखन की सहज अनुभूति ,उनका अनभै सांचा जिस साहित्य में अभिव्यक्त हो रहा है उससे प्रगट होनेवाली ज्ञान-मीमांसा दलित और स्त्री विमर्श की शास्त्रीय ज्ञानमीमांसा के साथ है ,उसे चुनौती दे रही है, उससे प्रेरणा ले रही है या सारी संभावनाओं कि सह-उपस्थिति है? इस साहित्य ने साहित्य की निर्वैयक्तिकता के दावों पर भी एक प्रश्न चिह्न लगा दिया है| यहाँ देह की उपस्थिति एक महत्वपूर्ण प्रत्यय की तरह है| देह और देह से जुड़ी पीड़ाओं को अभिव्यक्त करना एक बड़ी ज़रूरत थी जो साहित्य में पहले कभी इतना प्रासंगिक बन कर सामने नहीं आया था| स्त्री-शोषण की शुरुआत उसके देह से ही होती है| इस देह की पीड़ा को पुरुष पैदा करता है और पितृसत्ता से मुक्ति का पहला स्तर इस पुरुष

उपनिवेशित स्त्री-देह से मुक्ति ही है| निर्वैयक्तिकता के दावे में व्यक्तित्व केवल माध्यम था जिसके सहारे परंपरा और समाज कला में अभिव्यक्ति पाते थे या ज्यादा से ज्यादा समाज और रचना के बीच एक ऐसी कड़ी था जो परस्पर एक दूसरे को समृद्धतर करते चलते थे|[1] लेकिन देह की यह उपस्थिति रोमैंटिक व्यक्तिवाद भी नहीं है| इन दोनों से परे देह यहाँ शक्ति की जोर-आजमाईश का प्राथमिक आधार है| इसलिए रचना में देह की उपस्थिति उस पूरे शोषण से मुक्ति की दावेदारी के बतौर है| यह एक ऐसी अनुभूति से संपन्न रचना को जन्म देती है जिससे साधारणीकरण ना हो कर एक झटका मिलता है, उस चेतना को जिसका स्व/आत्म/सेल्फ कभी इस अन्यता को अपने अहम से मुक्त देख ही नहीं पाया था| देह-मुक्ति से सम्पूर्णमुक्ति तक की यात्रा की कल्पना और उसकी अभिव्यक्ति के तरीके अभी हो सकता है एक उहापोह में हों लेकिन इतिहास का नया पाठ तो अब निहायत ही ज़रूरी हो गया है| साहित्य में अनुभूति की दावेदारी का यह प्रयास अपनी परंपरा की तलाश भी करता है| दिक्कत यह है कि परंपरा निर्माण का यह प्रयास कई बार अन्यता को इतना कठोर और जड़ बना देता है कि उसे दूसरी अस्मिताओं के साथ संवाद की ज़रूरत ही नहीं पड़ती| यह गैर-संवादी परंपरा खुद अपनी मुक्ति के रास्ते तो बंद करती ही है सम्पूर्ण मुक्ति की परिकल्पनाओं को भी विचलनों से भर देती है| इसीलिए इतिहास का कोई भी नया पाठ गैरज़रूरी और भ्रामक होने को बाध्य है यदि वह इतिहास के दूसरे मुक्तिकामी पाठों से एक संवाद न कायम कर पाता है| मसलन दलित-मुक्ति का विमर्श दलित-स्त्री की अस्मिता का निषेध करने लगता है और इस प्रकार प्रकारांतर से खुद अपनी ही मुक्ति को बाधित करता है| मुक्ति की मार्क्सवादी धारणाओं के निषेध की प्रवृति भी ऐसे ही विमर्श को जन्म देती है जो अस्मिताओं के बहुआयामी और परस्पर गतीशील स्वरुप को न पहचानते हुए एक काल्पनिक शुद्ध अस्मिता के निर्माण करती है जिसका 'अन्य' भी उतना ही एकांगी और खुद उस अस्मिता के अद्वितीय होने के तर्क से निर्मित होता है| अस्मिताओं के निर्माण का आधार जितना ही काल्पनिक होगा उसके भीतर शुद्धता की राजनीति उतनी ही प्रबल होगी| मसलन हमारे देश में भाषाई अस्मिता और हिंदू अस्मिता जैसी अवधारणाएं|

---

[1] देखें, नामवर सिंह. "समाज, साहित्य, और लेखक का व्यक्तित्व"; *इतिहास और आलोचना*, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली:२००६.

राष्ट्रीय अस्मिताएं भी ऐसी ही किसी आदिम पहचान (primordial)की कल्पना पर निर्मित होती आयी हैं| जैसे अनादि काल से बने कुल संबंध, रक्त संबंध, भाषावाद(linguism), नस्लीयता आदि काल्पनिक आधारों को राष्ट्रीयता का नाम देना| इन कल्पनाओं ने लगातार इतिहास का एक निश्चित पाठ अपने लिए तैयार किया है| और ये पाठ औपनिवेशिक ज्ञान मीमांसा से नाभिनालबद्ध हैं|

यह अकारण नहीं है कि साम्प्रदायिक हिंदू सांस्कृतिक राष्ट्रवाद या हिंदू फसीवाद जिस इतिहास को अपने लिए उपयोग करता है उसके खिलाफ तर्क और तथ्यों पर आधारित इतिहास के दूसरे नैरेटिव कई बार बेबस और लाचार नज़र आने लगते हैं| बाबरी के ध्वंस के बाद इतिहासकारों ने जो अभियान हिंदू उन्माद कि राजनीति के खिलाफ चलाया था खुद उन इतिहासकारों कि नज़र में आज वह एक असफल अभियान साबित हुआ है| और इसका सबसे ताज़ा उदाहरण अयोध्या भूमि विवाद पर इलाहाबाद उच्च-न्यायालय का फैसला है| इस फैसले ने एक बार फिर से तथ्य और कल्पना के बीच चलने वाले पुराने विवाद को केंद्र में ला दिया है| रोमिला थापर ने बड़े आहत मन से तथ्य और उसपर इतिहासकार के दावे को एक न्यायलय से मिली चुनौती को दुर्भाग्यपूर्ण करार देते हुए कहा था कि यह एक विषय के रूप में इतिहास पर हमला है| यह एक व्यवहार के रूप में इतिहास की असफलता है| हमें याद रखना चाहिए कि सत्ता से सम्बद्ध होकर इतिहास सामान्यबोध को उन्मादी बनाता है| और इस के लिए हमें राजनितिक प्रतिरोध की ज़रूरत होती है| लेकिन यह प्रतिरोध अकादमिक स्पेस के भीतर चलने वाले विमर्शों और सामान्य जनता से उसकी दूरी के कारण इतिहास के सामान्यबोधीकरण का रास्ता पूरा नहीं कर पाती| जिस प्रकार ग्राम्शी ने फासीवाद के उभार से लड़ते हुए 'व्यवहार के दर्शन' की बात की थी उसी तरह क्या हमें आज 'व्यवहार के इतिहास' की ज़रूरत नहीं है? और निश्चित रूप से साहित्य के भीतर व्यवहार का यह जिम्मा आलोचना के कन्धों पर ही है| और आलोचना ज़रा भी अचेत हुई नहीं कि अपने तमाम सदाशयता के बावजूद अनेकांतवादी शवसाधना के सहारे अतीत की भूल-भुल्लैया में गुम हो जाती है| आप राष्ट्रीयता का पल्ला पकड़ कर राष्ट्रीयता की राजनीति का विरोध नहीं कर सकते क्योंकि अपने प्रगतिशील लगने वाली

TH-2026

Jawaharlal Nehru University Library

अंतर्वस्तु के बावजूद राष्ट्रीयता का औपनिवेशिक विमर्श अपने नैरेटिव में ही हिंसा, द्वेष और अपवर्जन को बढ़ावा देने वाला है| उस नैरेटिव संरचना में ही वह स्पेस है जो अधिसंख्यकवादी प्रभुता को अपनी राजनीति के लिए चारा मुहैय्या करती है| क्या ही संयोग है कि उत्तरौपनिवेशिक निर्मल और मार्क्सवादी रामविलास अपने धुर विरोध में भी इतिहास के एक खास नैरेटिव की संरचना से परास्त होकर एक ही जगह मिलते हैं, अपने 'आखरी अरण्य' में ! हिंदी साहित्येतिहास पर पुनर्विचार का एक सिरा यह भी है| शुक्ल की पराजित हिंदू जाति और रामविलास की हिन्दी महाजाति के बीच!

आइये वापस हम डेविड पर्किन्स की चिंता से रूबरू होते हैं| सवाल उस नैरेटिव फॉर्म की तलाश की है जिसमे इतिहास अपना रूप ग्रहण करता है| मार्च १९८८ में नामवरसिंह ने यादवपुर विश्वविद्यालय में आयोजित 'भारत में साहित्य की इतिहासकारी' विषय पर हुए सेमीनार में इतिहासकारी की समस्याओं पर विचार करते हुए मुख्यतः तीन बिंदुओं की तरफ ध्यान दिलाया था| पहला है नैरेटिव का संकट (crisis of narrative)| उनके ही शब्दों में-

> "मैं दो कारणों को और कहना चाहता हूँ कि क्यों एक आलोचक इतिहास नहीं लिख रहा है. मेरा ख्याल है कि यह व्यापक साहित्यिक आलोचना की समस्या है, that is loss of confidence in narrative, and it is somehow related to the novel writer. Creative literature men narrative kaa ideal form hai novel... हमारे यहाँ हिंदी में 19th century realism के style में novel लिखे जा रहें हैं. popular novel, novel form me कोई break through हुआ नहीं except one person after Premchand, and that is फणीश्वर नाथ रेणु , जिसमें sequential plotting, जो time के अनुसार होता है, उसको छोड़ कर, बल्कि Arnold Hauser की language में modern (temporality) कोई age तो जो simultaneous है एक

साथ event की तरह घटती हैं इस narrative को तोड़ कर फणीश्वर नाथ रेणु ने मैला आँचल लिखा और a different kind of narrative he was able to produce ;उसके अलावा हिंदी में जितने अच्छे लेखक हैं वे गल्प लिख रहें हैं, short story writers हैं| अच्छे novel हिंदी में जिसको कहूँ कि form के level पर breakthrough हों. हमलोग यहाँ पर ज्यादातर –avant garde literary theorist and scholars might be talking about Alain Robbe-Grillet and...after that, लेकिन हिंदी में novel के बारे में लिखें तो याद रखना है कि फॉर्म केवल formal चीज़ नहीं , Lukacsian terminology में कहें it is not only form but the form of a content. जिस अर्थ में soul and Form का इस्तेमाल करते हैं| मैं कहना चाहता हूँ कि जो किस्सा या दास्तान या कथा ,आख्यान बंध जो हमारी कादम्बरी वाली थी ,we have forgotten that, और जो नैरेटिव हमने पाया था , Victorian 19th century की उस नैरेटिव में चाहे वह प्रेमचंद लिख रहे हों या गुलशन नंदा लिखते हों ,it hardly makes any difference .in the same way, जो मैं कहना चाहता हूँ कि crisis of narrative है हिंदी में...."[1]

आगे वह बताते हैं कि हम जब तक नैरेटिव के इस संकट को दूर नहीं करते तब तक हम इतिहासकारी के संकट की समस्या को हल नहीं कर सकते| और यह प्रश्न केवल साहित्य इतिहास या उसकी इतिहासकारी का नहीं है बल्कि व्यापक जीवन का संकट है| वर्त्तमान के खो जाने का भय ,तात्कालिकता के खो जाने का भय इतना गहरे है कि नामवरसिंह के शब्दों में 'जाने अनजाने इस मसले में हर आदमी अस्तित्ववादी है|' मुश्किल ही है कि कोई भविष्य के

---

[1] नामवरसिंह,'हिंदी साहित्य इतिहास लेखन'. *लिटरेरी हिस्टोरिओग्राफी इन इंडिया, वॉल. १*; सं. अमिय देव ; पृष्ठ -५४-५५;डी एस ए कम्परेटिव लिटरेचर ,जादवपुर यूनिवर्सिटी , कलकत्ता:१९९२

बारे में सोच रहा हो| दरअसल यह यूटोपिया के खो जाने से पैदा हुआ है. " जब तक हमें भविष्य का थोड़ा भी बोध नहीं होगा साहित्य इतिहास तो क्या कोई भी इतिहास संभव नहीं है"|[1] और आगे तीसरी बात यह कहते हैं कि यह बोध निश्चित रूप से प्रैक्सिस से जुड़ा है| हम बिना इतिहास के निर्माण में हिस्सा लिए भविष्य बोध प्राप्त नहीं कर सकते| और इसलिए इतिहास लिख भी नहीं पाएंगे|

यहाँ नामवरसिंह ने हेडन व्हाइट की कुछ स्थापनाओं को हमारे सामने रखा है| लेकिन इनमे एक बारीक अन्तर भी है| हेडन व्हाईट के अनुसार हमें अतीत को समझने का ऐसा रास्ता चाहिए जो हमें 'क्रमभंग की शिक्षा दे सके...क्योंकि ये क्रमभंग, ये व्यवधान ही हमारी निधि हैं|' जीवन की बेहतरी इसी मे है कि इतिहास को किसी एक अर्थ में न पढ़ा जाए (किसी एक नैरेटिव से ही वशीभूत न हो), बल्कि अनेक अर्थों के दरवाज़े खुले रहें, जो इतिहास किसी भविष्यमुखी यूटोपिया का एजेंडा ले कर चलता है वह उस 'इतिहास के बोझ' से लोगों को मुक्ति देता है जो किसी एक ही समापन का अनुमान करता है. .[2] हेडन व्हाइट जिसे यूटोपिया कह रहे हैं उस अर्थ में इतिहास का मार्क्सवादी पाठ भी उतना ही यूटोपिया विरोधी है जितना कि बुर्जुआ इतिहास लेखन.[3]उनके अनुसार अब तक के हर नैरेटिव इतिहास की आलोचना की जानी चाहिए क्योंकि उन्होंने अतीत को बांधने(disciplining of the past) के चक्कर में उस एक चीज़ को मिटा दिया जिसे अनिवार्य रूप से बचना चाहिए था,अगर किसी राजनितिक यूटोपिया को एजेंडे में रखना था| और इस चीज़ को वह अतीत का उदात्त चरित्र (sublime nature of the past) कहते हैं| और इस उदात्ता के चरित्र को बचाए रखना उन्हें इतिहास लेखन के लिए आवश्यक लगता है| 'द पोलिटिक्स ऑफ हिस्टोरिकल इंटरप्रेटेशन' में वह इन चार बिंदुओं की ओर इशारा करते है: १) १८वीं सदी के अंत के पहले इतिहास के रूप में अतीत उतना अनुशासनात्मक नहीं

---

[1] वही, पृष्ठ-५६

[2] हेडन व्हाइट,'द बर्डेन ऑफ हिस्टरी', *ट्रोपिकस ऑफ डिस्कोर्स* में,पृष्ठ-२७-५०,बाल्टीमोर ,जान होपकिंस यूनिवर्सिटी प्रेस ,१९७८.

[3] हेडन व्हाइट,'द पोलिटिक्स ऑफ हिस्टोरिकल इंटरप्रेटेशन: डिसिप्लिन एंड डी-सब्लिमेशन', द कंटेंट ऑफ द फॉर्म में, पृष्ठ-५८-८२. बाल्टीमोर ,जान होपकिंस यूनिवर्सिटी प्रेस ,१९८७.

था ; माने वह उदात्त को स्वीकार करता था;२)लेकिन १९वीं और २०वीं शताब्दी में रेडिकल(जैसे मार्क्सवादी)और उदारवादी और संरक्षणवादी विचारधाराओं ने अपने-अपने सुविधानुसार अतीत को अनुशासित किया;३)यह अनुशासनीकरण मूलतः अतीत का एस्थेटिसाइजेशन था (जो कभी कभी विज्ञान के श्रेणीबद्ध या एस्थेटिसाइज विमर्श के रूप में भी अभिव्यक्त होता था) जिसने उदात्त को 'बुझा दिया';४) लेकिन अपनी इस उत्तराधुनिक स्थिति ने विमर्शों के इतने सारे विकल्प खोल दिए हैं कि उनकी सहायता से हम पुराने एस्थेटिसाइज समापनों की आलोचना कर सकते हैं| इस 'स्थिति' ने उन सारे नैरेटिव के लिए संकट पैदा कर दिया है, जिन्होनें एक नैरेटिव मिथ और एक निश्चितवादी अनुशासनात्मक कार्यवाइयों के सहारे मुक्ति का वादा किया था| और इसने एक उदात्त के रूप में अतीत की पुनर्खोज के क्रम में क्रमभंगों और भिन्नताओं के इतिहासों की सम्भावना खोल दी है| व्हाइट का मानना है कि अब तक के सारे ऐतिहासिक आख्यान एक यूटोपिया विरोधी अंत के विचारधारात्मक औज़ार ही साबित हुए हैं| इसीलिए इस समय यह ज़रूरी हो गया है कि इतिहास की एक ऐसी पुनर्निर्मिति हो जो इसके अपने सत्य को किसी नैरेटिविस्ट तरीके से प्रस्तुत किये जाने का विरोध करते हुए बुर्जुआ विचारधारा के खिलाफ अपना प्रतिरोध दर्ज कर सके| असंगतिओं और क्रमभंगों, भिन्नताओं और अन्यता के इतिहास आज ज़रूरी हैं| ये ज़रूरी हैं क्योंकि एक खास आख्यान में बंद मुक्ति के स्वप्न की जगह ये मुक्ति के अपने अपने रास्तों की बहुलता का समर्थन करते हुए अतीत के उदात्त को फिर से स्थापित करते हैं|[1] व्हाइट का मानना है कि अधीनस्थ,उत्थानशील और प्रतिरोध करने वाले सामाजिक समूहों को मार्क्सवाद सहित किसी भी विचारधारा से किसी प्रकार की सहायता नहीं मिल पाएगी जो वस्तुस्थिति या वस्तुगत सत्य पर केवल अपने दावों को पेश करते हैं| और ऐसे किसी भी विरोधी को केवल उनके ऐतिहासिक रिकॉर्डों के आधार पर नहीं ढोया जा सकता है क्योंकि,

---

[1] हेडन व्हाइट,'द पोलिटिक्स ऑफ हिस्टोरिकल इंटरप्रेटेशन: डिसिप्लिन एंड डी-सब्लिमेशन', *द कंटेंट ऑफ द फॉर्म* में, पृष्ठ-८१-८२. बाल्टीमोर ,जान होपकिंस यूनिवर्सिटी प्रेस ,१९८७.

> "ये अतीत ,जैसा कि वह वस्तुतः था, को जानने कि कोई खिड़की नहीं हैं वरन् एक ऐसी दीवार है जिसे अनिवार्यतः तोड़ दिया जाना चाहिए ताकि 'इतिहास के आतंक'... से सीधी मुठभेड़ की जा सके और इनके भय को छिन्न-भिन्न किया जा सके|"[1]

उदात्त को स्वीकार किये बिना किसी भी तरह का यूटोपिया संभव नहीं है. और व्यक्ति स्वातंत्र्य, मुक्ति, और सशक्तीकरण के लिए वर्तमान की विनाशकारी शक्तियों से लड़ाई में हमें जो इतिहास चाहिए वो किसी सातत्य का नहीं वरन क्रमभंगों(discontinuities) ,टूटन(rupture), अव्यवस्थाओं(chaos) और विस्थापनों (dislocations) के इतिहासों की ज़रूरत है| इस प्रकार व्हाइट की दो मूल बातें हैं- पहली यह कि इतिहास प्रधानत: एक आख्यानात्मक विमर्श है, जिसकी अंतर्वस्तु जितनी वस्तुतः प्राप्त है उतनी ही काल्पनिक या आविष्कृत ,जो उदात्त के सकारात्मक स्वीकार और असातत्य की विवेचना दोनों में अक्षम है| दूसरी बात है कि इतिहास या इतिहासकारी को कैसा होना चाहिए| यह क्रमभंग इतिहासों की ऐसी धारा होनी चाहिए जिसकी अंतर्वस्तु वस्तुतः जितनी प्राप्त हो उतनी ही काल्पनिक या आविष्कृत ,लेकिन जो उदात्त को एक महत्वपूर्ण कल्पना के रूप में स्वीकार करे जिसके सहारे एक ज्यादा उदार और बहुआयामी मुक्ति की ओर हम अग्रसर हो सकें|

नामवर सिंह आख्यान के संकट की तरफ इशारा करते हुए दरअसल उसी उत्तर-आधुनिक संकट की बात कर रहे थे जहाँ प्रबोधन युगीन मुक्ति के सारे महाख्यान अपनी पुरानी आभा खो चुके हैं| नामवरसिंह आख्यान के इस संकट को वृहत्तर रचनात्मकता का संकट बताते हैं| यह संकट दरअसल आख्यान में विश्वास न होने के कारण आया है और मुख्य रूप से उपन्यास लेखन से जुड़ा है| एक ओर तो आख्यान में विश्वास की कमी को वह यूटोपिया के खो जाने से जोड़ रहे हैं दूसरी ओर साहित्य में आख्यान के रूप में उपन्यासों की संरचना को जड़ बता कर रूप के स्तर पर किसी परिवर्तन के न होने की समस्या को उससे जोड़ रहे हैं| उनका मानना है कि हमने उपन्यास का वही रूप लिया जो १९वीं सदी के विक्टोरियन नोवल का था| इस

---

[1] वही

कारण हमने अपनी कादम्बरी वाली शैली भुला दी| इस शैली की ओर इशारा कर आख्यान के संकट से उबरने का एक रास्ता वह देते हैं| कथा किस्सा और दास्तान वाली यह कादम्बरी शैली ठीक कार्य कारण संबंधों वाली न होती थी| इसमे वक्त एक सीधी रेखा में न चलता था| ये कहीं खतम न होने वाले कथा-बंध हुआ करते थे,बीच बीच में रूपकों का निर्वहन होता था, कई सामानांतर कथाएँ साथ-साथ चलती थीं, कथा में कल्पना का विशेष आधार था और सुनने गुनने वालों के लिए असमंजस कि कहानी खतम भी हुई लेकिन उनके 'फिर क्या हुआ' का संतोषजनक उत्तर न मिला| दरअसल अतीत के उदात्त अनिर्णय का बोध ऐसे ही किसी आख्यान संरचना वाले इतिहास में हो सकता है| व्हाइट जिस उदात्त की स्वीकारोक्ति इतिहास की पूर्वशर्त बताते हैं नामवर उसे कादंबरी शैली में व्यक्त होता देख रहे थे| दूसरी ओर उन्हें भी इतिहास को असातत्य में देखने की ज़रूरत लग रही थी| उसी भाषण में उन्होंने आगे इतिहास लेखन की प्रश्नोत्तरी शैली की सम्भावना रखी और कॉलिंगवुड के हवाले से कहा कि 'हमें उस स्थिति की, उस विशेष परिस्थिति की ,जिसमे वो प्रश्न कौन से थे जिनके रेस्पोंस में एक खास रचना रची गयी, की खोज करनी चाहिए| रचना के भीतर से उन सवालों को पुनर्निर्मित करने की कोशिश होनी चाहिए जिसके रेस्पोंस में रामचरितमानस रचा गया'| कोई भी विशेष परिस्थिति असीम संभावनाओं से भरी होती है|

> "कोई ऐतिहासिक क्षण संभावनाओं से भरा होता है, और कोई टेक्स्ट –बहुत सारे टेक्स्ट –so many text are produced-in that particular situation as response and तब हमें समझ में आएगा कि १६वीं सदी के अंत में और १७वीं सदी के आरम्भ में दो situations बहुत text भक्ति के produce क्यों किये ...अगर हम इस तरह से देखें ,then history becomes the history of questions and answers , and in

this way we shall be able to reconstruct a narrative which is actually full of so many breaks."[1]

और इस तरह पुराने इतिहास नैरेटिव के सातत्य की जगह साहित्य इतिहास को अंतरालों में देखने की सलाह देते हैं। ठीक यही बात व्हाइट भी कह रहे थे। लेकिन जिस बारीक अंतर की बात मैं कह रहा था वह है यूटोपिया संबंधी दोनों के चिंतन का अंतर। नामवर सिंह के लिए मार्क्सवाद उस तरीके से यूटोपिया विरोधी नहीं है जिस तरह से व्हाइट के लिए वह है। यह बारीक अंतर इस बात में भी है कि जहाँ व्हाइट सामाजिक समूहों या बेहतर रूप से कहें तो अस्मिताओं के संघर्ष के लिए मार्क्सवादी इतिहास नैरेटिव से कोई सहायता की उम्मीद नहीं रखते और प्रकांतर से किसी संवाद की गुंजाइश को नकार देते हैं वहीं नामवर इसे स्वीकार करते मालूम नहीं पड़ते और इसका उत्तर प्रैक्सिस के ज़रिये पाने को कहते हैं। आज बीस साल बाद दोनों विचारकों की बातों का विश्लेषण करने पर साफ़ मालूम पड़ता है कि गैरसंवादी इतिहासों को सीधे-सीधे स्वीकार नहीं किया जा रहा है। संघर्ष की एकता की बात आज प्रैक्सिस के ज़रिये साबित होती जा रही है। भिन्नता या भेद पर अतिशय जोर देने के कारण व्हाइट ऐसे रेडिकल भविष्य की यूटोपिया रचने की कोशिश करते हैं जिसमे अपने–अपने मुक्ति के अलग अलग दावों और अपने-अपने अलग-अलग सत्यों को एक ऐसी अन्यता में रचा जाता है जो खुद मुक्ति विरोधी हो जाता है। इसीलिए 'मुक्ति है तो सबके साथ है' ऐसा मानना नामवर सिंह नहीं छोड़ते। आज भेदों की अतिशयता को नकार कर अभेद के आधारों की तलाश फिर से शुरू हो गयी है। इसीलिए 'भेद में अभेद' ढूँढने वाली इतिहास दृष्टि फिर एक बार प्रमुख हो गयी है। भेद में अभेद ढूँढने वाली ऐसी ही इतिहास दृष्टि की प्रस्तावना दीपेश चक्रवर्ती ने अपनी किताब 'प्रोविन्शियलाइजिंग यूरोप' में की है । इस किताब में उन्होनें दिखाने की कोशिश की है कि उत्तर-औपनिवेशिक इतिहास-लेखन के भीतर पश्चिमी प्रबोधन के मूल्यों के नकार ने जो अतिवादी दृष्टि अपनाई है वह ठीक नहीं है। हम प्राच्यवाद का उत्तर पूर्ववाद गढ़ कर नहीं दे

---

[1] नामवरसिंह,"हिंदी साहित्य इतिहास लेखन". *लिटरेरी हिस्टोरिओग्राफी इन इंडिया, वॉल. १*; सं. अमिय देव ; पृष्ठ -५७;डी एस ए कम्परेटिव लिटरेचर ,जादवपुर यूनिवर्सिटी , कलकत्ता:१९९२.

सकते| और इस प्रकार प्रबोधन के मूल्यों के विरोध में हम उन सब मानवतावादी मूल्यों को भी नकार देते हैं जो भले ही किसी समय पश्चिम में या यूरोप में सामने आया था लेकिन उस पर अब सम्पूर्ण मानवजाति का अधिकार है| 'यूरोप का क्षेत्रीकरण' कोई सांस्कृतिक सापेक्षितावाद या पूर्वजों की खोज वाली अद्वितीय देशी इतिहास लिखने की कोशिश नहीं है| और न ही यह सीधे-सीधे आधुनिकता को नकार देने की कोशिश है जो राजनितिक रूप से आत्मघाती है|[1] उन्हीं के शब्दों में :

> "मैं एक ऐसे इतिहास को चाहता हूँ जो अपने उन्हीं आख्यान रूपों की संरचना में उनकी ही शोषणकारी रणनीतियों और कार्यों को दिखा सके, जिसने नागरिकता के आख्यानों के साथ सांठ-गांठ कर आधुनिक राज्य के भीतर ही मानवीय एकात्मकता(human solidarity) की सारी संभावनाओं को समाहित कर लिया है| इस निराशा की राजनीति को एक ऐसा इतिहास चाहिए जो अपने पढ़ने वालों के सामने उन कारणों को खोल दे जिसने इस दुर्दशा को अनिवार्य रूप से अपरिहार्य बना दिया है| ..इस यूरोप के क्षेत्रीकरण का प्रयास आधुनिक को अपरिहार्य कलहों से युक्त देखना है| यह उस बारे में लिखना है जहाँ नागरिकता के आख्यान को विशेषाधिकार दिया गया और उसे शर्तिया माना गया तथा उन सारे मानवीय संबंधों के आख्यान जो अपने स्वप्निल अतीत और भविष्य से जीवनशक्ति पाते थे और जो अपनी सामुहिकता, नागरिकता के कर्मकांडों और "आधुनिकता" के पैदा किये गए "परम्पराओं" के दु:स्वप्न से तय नहीं करते थे,को बाहर रखा गया|"[2]

इस बाहर रखने के पीछे एक 'इतिहासवाद' काम करता है जो सामान्य रूप से यह नहीं दिखाता कि आधुनिकता या पूँजीवाद वैश्विक हैं बल्कि यह दिखाता है कि धीरे धीरे वो किसी समय वैश्विक हो जाएँगे पहले-पहल "यूरोप" में पैदा हो कर बाकी दुनिया में फ़ैल जाएँगे| यह "पहले

---

[1] दीपेश चक्रबर्ती. *प्रोविन्सियलाइजिंग यूरोप*'; पृष्ठ-४५,प्रिंसटन युनिवेर्सिटी प्रेस,न्यू जरसी :२०००.

[2] वही, पृष्ठ-४५-४६.

यूरोप, फिर अन्य जगह" वाली वैश्विक ऐतिहासिक-समय की धारणा इतिहासवादी(historicist) थी| इसी ऐतिहासिक काल बोध के तहत विभिन्न गैर-पश्चिमी राष्ट्रीयताओं ने आगे चल कर उसी आख्यान के स्थानीय संस्करण पैदा किये| बस "यूरोप" को हटा कर किसी स्थानीय केंद्र को रख दिया गया| दीपेश कहते हैं कि यह इतिहासवाद ही था जिसने मार्क्स को भी यह कहने पर मजबूर किया था कि " औद्योगिक रूप से विकसित देश पिछड़े देशों को उनके अपने भविष्य की ही छवि दिखाते हैं|"[1] इसी इतिहासवादी धारणा की आलोचना करते हुए वह कहते हैं कि पूंजीवादी आधुनिकता को अब आगे केवल ऐतिहासिक संक्रमण(transition) की समाजशास्त्रीय समस्या के रूप में देखने की बजाय उसे रूपांतरण(translation) की समस्या के रूप में भी देखा जाए|[2] रूपांतरण के रूप में आधुनिकता को देखने का मतलब है गैर पश्चिमी समाज में जो तथाकथित आधुनिक-पूर्व प्रवृत्तियाँ हैं उनके और पूंजीवादी इतिहास के आख्यान के बीच बनने वाले संश्लिष्ट चरित्र को देखना| एक स्तर पर यह यूरोपीय आधुनिकता को पूर्ण और अवश्यम्भावी मानने को अस्वीकार करते हुए भी उसके प्रभावों का निषेध नहीं करता और दूसरी ओर समाज के 'गैर-आधुनिक' मूल्यों को भी पिछड़ा या समय के किसी और बिंदु पर देखने की बजाय अभी और वर्तमान मान कर उसकी व्याख्या करता है| यह 'अभी' या 'वर्तमान' को इतिहास के प्रतीक्षालय(waiting room of history)[3] से वापस लाने की कोशिश है भारतीय इतिहास को यूरोपीय आधुनिकता के प्रतीक्षालय के रूप में देखना दरअसल समय की इतिहासवादी धारणा का ही फल है| यह इतिहास को बेंजामिन के शब्दों में कहें तो 'सेकुलर समांगी और खाली समय'(secular, empty and homogenous time) के रूप में देखना है| जबकि बेंजामिन की नज़र में "इतिहास एक ऐसी संरचना का विषय है जो किसी समांगी ,खाली समय में नहीं बल्कि 'अभी'

---

[1] वही,पृष्ठ-७
[2] वही, पृष्ठ-१७
[3] वही, पृष्ठ-८-९

की उपस्थिति से भरे समय में ही है"[1]| साहित्य का इतिहास ऐसे ही वर्त्तमान से भरे समय को पकड़ने की कोशिश है| इस कोशिश में साहित्य का इतिहास जिस नैरेटिव से अपना सन्दर्भ प्राप्त करने की कोशिश करता है वह सन्दर्भ जिसे दीपेश इतिहास-१ और इतिहास -२[2] कहते हैं, उनकी संश्लिष्ट प्रक्रिया को समझे बिना अधूरा है|

इतिहास-१ और इतिहास-२ की अवधारणा मार्क्स के पूंजी सम्बन्धी आलोचना से ही निकली है| यह अवधारणा गहरे रूप से उत्पादन की पूँजीवादी पद्धति और आधुनिक यूरोपीय साम्राज्यवाद को समझने के लिए प्रबोधन-कालीन अमूर्त्त मनुष्य की धारणा और इतिहास के विचार का उपयोग करती है| साम्राज्यवाद विरोधी किसी भी विचार के लए मार्क्स की इन अवधारणाओं का निषेध असंभव है. इसलिए दीपेश कहते हैं कि इन सिद्धांतों को फिर से याद करना एक तरह से उत्तर-औपनिवेशिक समझदारी और प्रबोधन के बाद की तार्किकता,मानवतावाद, और इतिहासवाद की बौद्धिक परंपरा के बीच के रिश्तों पर भी पुनर्विचार है.|[3]पूंजीवादी विकास की धारणा यह है कि इतिहासों के बीच के भेद समय के साथ खत्म हो जाएँगे और एक लंबी दौड़ में पूंजी की विजय होगी| दूसरी ओर असमान विकास की व्याख्याएं कहती हैं कि ये भेद यद्यपि पूरी तरह खतम नहीं हो सकते लेकिन इनमे एक समझौता हो जाएगा और यह पूंजी की संरचना में ही होगा| तीसरी ओर कोई पूंजी को ही इन सारे भेदों के उत्पादन और पुनरुत्पादन का जिम्मेवार करार दे सकता है| और तीनों व्याख्याएं इतिहासवादी हैं| इसीलिए ऐतिहासिक भेदों और पूंजी के तर्क से उनके संबंधों को इस इतिहासवाद से अलग करने की कोशिश में दीपेश मार्क्स की अमूर्त्त श्रम और पूंजी तथा इतिहास के रिश्तों के बारे में जो स्थापनाएं हैं ,उनका उपयोग करते हैं| ये दोनों ही स्थापनाएं पूंजी की उनकी आलोचना से जुड़ी हैं| मार्क्स की पूंजी सम्बंधित बहसों के केंद्र में है जींस या कमोडिटी और इस जींस सम्बंधित धारणा के केंद्र में है भेद का प्रश्न| जिंसों के विनिमय में हम ऐसी चीज़ का विनिमय करते हैं जो अपने इतिहासों , भौतिक गुणों, और उपयोग मूल्य में भिन्नता रखते हैं|

---

[1] वही, पृष्ठ -२३ और पृष्ठ-२६५

[2] देखें "टू हिस्टरिज ऑफ कैपिटल", *प्रोविन्सियलाइजिंग यूरोप*'; प्रिंसटन युनिवेर्सिटी प्रेस,न्यू जरसी :२०००

[3] वही, पृष्ठ-४८.

जिंसों के रूप में भेद का निषेध नहीं होता बल्कि उन्हें थोड़ी देर के लिए स्थगित कर दिया जाता है ताकि हम एकदम अलग अलग चीजों का भी विनिमय कर लें| जैसे बिस्तर और घर का| लेकिन यह होता कैसे है? मार्क्स का आधारभूत प्रश्न यही है| अरस्तु से इसी सवाल पर उनकी बहस होती है| अरस्तु ने कहा था कि बिना विनिमय के कोई समुदाय नहीं होता और समुदाय है की भिन्न भिन्न और गैर सामान मनुष्यों से ही बनता है| इसीलिए एक समतुल्यताकारी माप होना चाहिए| और पैसे के रूप में एक प्रथा या नियम कि कल्पना होती है| अरस्तु कहते हैं कि बिस्तर और घर में कुछ भी समान नहीं होता वो तो हम अपनी सुविधा से एक मुद्रा को मान लेते है और समुदाय की इच्छा शक्ति जब तक उसे स्वीकार करती है वह विनिमय का मापक बना रहता है| इस प्रथा को हम कभी भी बदल सकते हैं| यह मुद्रा हमें बताती है कि 'कितने जूतों के बराबर एक घर होगा'| यह एक अनिश्चित और काल्पनिक पैमाना है और दरअसल दो भिन्न वस्तुओं के बीच कोई वास्तविक बिचौलिया नहीं हो सकता| इस भेद को पाटने वाला कोई बिचौलिया नहीं हो सकता ऐसा मार्क्स नहीं मानते और कहते हैं कि एक बिचौलिया है और वास्तविक है| यह है मानव श्रम| यही अमूर्त्त श्रम है जिसे मार्क्स "मूल्य की अभिव्यक्ति का रहस्य" कहते हैं| मार्क्स की पूंजी संबंधी आलोचना वहीं से शुरू होती है जहाँ वह अपनी जिंदगी की शुरुआत ही करती है ,यानि श्रम का अमूर्तन| और यह श्रम है कि हमेशा ही जीवित श्रम के रूप में उपस्थित होता है| और इस जिंदा होने में ही यह श्रम पूंजीवादी अमूर्त्तन का प्रतिरोधी हो जाता है| और इस प्रकार पूँजीवाद एक आतंरिक अंतर्विरोध का शिकार हो जाता है| क्योंकि पूंजीवाद को अपने विकास के लिए मृत श्रम की ज़रूरत होती है| और इसलिए वह निरंतर तकनीक का विकास करता है और इस प्रकार जीवित श्रम की इस ज़रूरत को न्यूनतम करता जाता है| इसी से वह परिस्थिति पैदा होती है जहाँ श्रम की मुक्ति संभव होती है| और यहीं आकर पूँजी का भी विलोप संभव हो पाता है| यहाँ मार्क्स पूँजी के भीतर के अपने ही अंतर्विरोध से उसके विलोपन और पूंजी के परे एक भविष्य को देखते हैं| पूंजीवादी पद्धति में निहित इस अमूर्त्त श्रम के सहारे ही वह पूंजी की मूलगामी आलोचना प्रस्तुत करते हैं| लेकिन इस पूरी

आलोचना में वह ऐतिहासिक भेद स्थगित रहता है| क्योंकि खुद मार्क्स के शब्दों में यह वास्तविक पूंजी की आलोचना है| मतलब यह 'capital as such' की आलोचना है|

ग्रुन्द्रीस में मार्क्स ने पूंजी के अतीत को अस्ति(being) और भवति (becoming) के अंतर के रूप में व्याख्यायित किया है| 'अस्ति' का मतलब पूंजी के संरचनात्मक तर्क से है, अर्थात जब पूंजी पूर्णतः अपना स्वरुप प्राप्त कर लेती है| यह पूंजी का 'being-for-itself' है| यही हेगेलीय शब्दावली में 'capital as such' या वास्तविक पूंजी है| 'भवति' उस ऐतिहासिक प्रक्रिया को बताता है जिसमे और जिसके द्वारा पूंजी के 'अस्ति' की तार्किक पूर्वसंभावना प्रकट होती है| ये तार्किक पूर्वसंभावनाएं केवल समयसारणी में कोई पहले घटित घटना नहीं है बल्कि वह अतीत है जिसे पूंजी खुद अपने सिंहावलोकन में प्रस्तुत करती है| जैसे जब तक भूमि या उत्पादन के औजारों से श्रमिक को अलग नहीं किया जाएगा तब तक पूंजी को कोई श्रमिक भी नहीं मिलेगा| जब तक यह अतीत चलता रहेगा मजदूर और पूंजीपति, पूंजी के 'अस्ति' के हिस्से नहीं होंगे| और इस अतीत का पूर्वानुमान बिना पूंजी के तर्क को आत्मस्थ किये नहीं हो सकता है| इसलिए इस ऐतिहासिक ज्ञान को जानने के लिए पूंजी की संरचना को भी समझाना ज़रूरी है| मार्क्स इस इतिहास को अपने 'थ्योरी ऑफ सरप्लस वैल्यू' में एक नाम देते हैं: पूंजी का पूर्ववर्ती जिसे उसने खुद ही आरोपित किया है| यहाँ आज़ाद श्रम पूंजीवादी उत्पादन का कारण और परिणाम दोनों है|[1] यह पूंजी से जुड़ा सार्वभौम और अनिवार्य इतिहास है| यही उत्पादन की पूंजीवादी पद्धति तक संक्रमण के सभी आख्यानों की नींव बनाता है| इसे ही दीपेश इतिहास-१ कहते हैं[2]

मार्क्स इस इतिहास-१ के विरोध में एक और अतीत को सामने रखते हैं जिसे इतिहास-२ कहा जा सकता है| यह भी पूंजी के पूर्ववर्ती की तरह ही आता है, जिसे पूंजी अपने "पूर्ववर्ती की तरह ही पाती है", लेकिन "उस पूर्ववर्ती की तरह नहीं जिसे पूंजी ने खुद ही पैदा किया है, या

---

[1] वही, पृष्ठ-६३.

[2] वही

जो उसके ही जीवन चक्र का एक रूप हो"।[1]और इस प्रकार मार्क्स यह स्वीकार करते हैं कि पैसे और जींस का सम्बन्ध इतिहास में ऐसा भी रहा है जो अनिवार्य रूप से पूंजी को पैदा नहीं भी करता है। इन सारी बातों को सार रूप में दीपेश ने ऐसे रखा है:

> "...इतिहास-२ की धारणा हमें मानव संबंधों के कुछ ज्यादा प्रभावशाली आख्यानों की तरफ ले जाती है जहां जीवन रूपों, चाहे वो आपस में जितने भी खुले हों, का किसी अमूर्त्त श्रम रूपी तीसरे कारक के आधार पर विनिमय संभव नही है। इतिहास-१ के प्रारूप में पूंजीवाद तक संक्रमण या रूपांतरण किसी तीसरी समतुल्यताकारी माप के सहारे सामान्य विनिमय को संभव बनाता है। लेकिन इतिहास-२ के रजिस्टर पर ऐसे संक्रमण या रूपांतरण को चिह्नित करना रूपांतरण को दो कोटियों के बीच किसी तीसरी कोटि के बगैर सौदे के रूप में देखना है। किसी सामान्य विनिमय के बदले रूपांतरण यहाँ बार्टर के रूप में होता है। हमें रूपान्तरण के दोनों तरीकों के बारे में साथ-साथ सोचने की ज़रूरत है क्योंकि दोनों मिल कर ही विविधतापूर्ण और परस्पर विरोधी इतिहासों के आर-पार पूंजी के वैश्वीकरण की परिस्थितियां पैदा करती हैं। लेकिन पूंजी के इस वैश्वीकरण(globalization of capital) का मतलब पूंजी का सार्वभौमिक(capital's universalization) होना नहीं है। ...पूंजी का खुद को अपने तार्किक रूप में होना इन विभिन्न इतिहास-२ से हमेशा स्थगित या बाधित भी होता रहता है और इस प्रकार हमेशा इतिहास-१ को कुछ कुछ बदलता भी रहता है। यहीं से ऐतिहासिक भेदों की पहचान होनी चाहिए।"[2]

मानव के इन ज्यादा प्रभावशाली आख्यानों की खोज साहित्य की ओर ले जाती है। इसीलिए अब साहित्य खुद इतिहास के आख्यान को बनाने में पहले के किसी भी वक्त से ज्यादा महत्वपूर्ण हो गया है. इस किताब की विशेष चर्चा इसलिए भी ज़रूरी लगी क्योंकि पुरुषोत्तम अग्रवाल की

---

[1] वही

[2] वही,पृष्ठ-७८

'अकथ कहानी प्रेम की' को कुछ लोगों ने 'यूरोप' को अपने ढंग से प्रोविन्सियलाइज करने वाली बताया है[1]| इस प्रकार यह हिंदी साहित्य इतिहास-लेखन की एक नयी दृष्टि भी है|

आख्यान के जिस संकट की बात चल रही थी, वह पहले-पहल आख्यान के भीतर संकट के बतौर सामने आता है| 'आख्यान में संकट' ने ही आगे चल कर 'आख्यान का संकट' पैदा किया| बड़े आख्यान में संकट ने छोटे छोटे आख्यानों को जन्म दिया| आख्यान का यह संकट जितना अपनी दुविधा और अंतर्विरोधों का परिणाम है उतना ही छोटे-छोटे आख्यानों के दबाव से भी पैदा हुआ है| आख्यान के भीतर पैदा संकट ने जिन छोटे-छोटे आख्यानों को अपरिहार्य बना दिया था उन छोटे-छोटे आख्यानों ने अपने को साहित्य के भीतर 'आत्मकथाओं' के रूप में अभिव्यक्त किया है| यह अकारण नहीं है कि दलित और स्त्री लेखन में आत्मकथाओं की इतनी रचनाएँ हो रही हैं| तो क्या आत्मकथाओं के रूप में एक ऐसी नैरेटिव संरचना हमारे पास प्रैक्सिस के कारण नहीं मिल रही है जो आख्यान के पुराने रूपों के भीतर ही एक नयी संभावना जगाती है? अपने आधारभूत रूप में ये रचनाएँ भी पुराने आख्यानों की संरचना में ही रची बसी हैं| लेकिन इन रचनाओं ने आत्मकथाओं के रूप में उस सामान्य नैरेटिव संरचना में आत्म-बोध की केन्द्रीयता स्थापित की है, जिसने १९वीं सदी के फार्मल रीयलिज्म के आधारभूत सत्ता विमर्श[2]को नयी चेतना से भर दिया है| तब क्या फिर इतिहास के नैरेटिव के रूप में इस पर विचार नहीं किया जा सकता है? नैरेटिव के भीतर ही नयी अभिव्यक्ति और प्रकारांतर से इतिहास की नयी व्याख्या का रास्ता तो यह खोलता ही है, इसमे कोई शक नहीं है| व्हाइट के ही तर्ज़ पर कहें तो इस 'रूप की अंतर्वस्तु' में ही वह संभावना है जो एक नए इतिहास लेखन का रास्ता खोलता है| ये आत्मकथाएँ किसी सामाजिक समूह या अस्मिता (जैसे दलित,स्त्री या आदिवासी) की अभिव्यक्तियाँ हैं, इसलिए इतिहास के नैरेटिव के भीतर या कहें कि परंपरागत नैरेटिव में उन विचलनों के ज़रिये अपनी इतिहासकारी का निर्माण कर सकते हैं जिसे

---

[1] देखें, पुरुषोत्तम अग्रवाल, *अकथ कहानी प्रेम की: कबीर की कविता और उनका समय*.पृष्ठ- viii. राजकमल प्रकाशन, दिल्ली:२००९.

[2] नामवर सिंह ने ध्यान दिलाया है की १९वीं सदी के यूरोप में उपन्यास या नोवेल का उदय फार्मल रियलिज्म के साथ जुड़ा है| नारीवादी लोगों के हवाले से यह भी कहा कि उपन्यास की परिकल्पना के मूल में ही सत्ता को चुनौती देने का आधार था| उपन्यास की परिभाषा में ही लिंग भेद या जेंडर डिफरेंस रहा है | देखें, नामवर सिंह .'भारतीय उपन्यास और प्रेमचंद',*प्रेमचंद और भारतीय समाज* में; सं. आर्शीष त्रिपाठी ; पृष्ठ -५७-५८.|राजकमल प्रकाशन, दिल्ली:२०१०.

प्रभुत्वशाली नैरेटिव अपनी क्रमबद्धता और वृहत परम्परा में या तो महत्व नहीं देता या उसे अपने में विनियोजित(एप्रोप्रिएट) कर उसके भेदों को समाप्त कर देता है| इसलिए आत्मकथात्मक इतिहास की संभावना अतीत के विचलनों और अंतरालों के बीच से ही अपनी परंपरा खोजने की कोशिश होगी| ये आत्मकथात्मक इतिहास किसी रचना की उस महत्ता को भी ज्यादा महत्व देंगे जो परंपरागत नैरेटिव में 'फिट इन' होने के कारण अपनी तात्कालिकता खो देता है; क्योंकि 'आत्मकथाएँ' अपने साथ, अपने वर्त्तमान के साथ ही अतीत को भी लिए चलती है| ये उस नैरेटिव का निर्माण करती हैं जहाँ इतिहास की कोई घटना हमसे दूर नहीं मालूम पड़ती बल्कि ठीक हमारे भीतर अपनी मौजूदगी का अहसास दिलाती हैं| यह अनजाने ही इतिहास के भीतर 'आत्म' का प्रक्षेप करती हैं और इस प्रकार इतिहास में 'नित्य वर्त्तमान'(ever present now) के निरूपण की समस्या का हल देती हैं| एक प्रकार से यह नैरेटिव, परंपरा और इतिहास की सीमा रेखा पर अवस्थित होता है| इस प्रकार का इतिहास लेखन विचलनों और कैटास्ट्रोफ को तो लक्षित करेगा ही साथ ही पुराने नैरेटिव के भीतर उन स्पेसों की तलाश भी होगी जहाँ वह नयी व्याख्या की मांग करता है| यहाँ इतिहास बनाना और जगाना दोनों होगा| लेकिन क्या इस नैरेटिव में उन अभेदों की जगह होगी ,क्या उनका ध्यान रखा जा सकेगा जो साहित्य मात्र को हम सब की विरासत बना देता है? क्या आत्मकथाओं के भीतर ही 'अन्य' के साथ संवाद संभव हो पायेगा? क्या 'दलित साहित्य की आत्मकथा' या 'स्त्री साहित्य की आत्मकथा' जैसे रूपों में एक नयी इतिहासकारी संभव है? क्या यह हिंदी साहित्येतिहास लेखन पर पुनर्विचार का एक आयाम हो सकता है?

हिन्दी साहित्य के इतिहास में हज़ार इस्वी की आस-पास जो चेतना 'स्वभावतः' ही लोक की ओर झुकने लगी थी, प्रेमाख्यानों की रचनाएँ हो रही थीं, प्रेमा पुमर्थो महान् की घोषनाएं हो रही थीं, भक्ति काव्य के मूल में प्रेम की अंतर्ध्वनियाँ ही प्रधान थीं,आधुनिक काल में उपन्यास और राष्ट्र के केंद्र में स्त्री ही थी| छायावाद की कल्पना स्त्री के बिना असंभव है,सरोज स्मृति और कामायनी या राम की शक्ति पूजा से लेकर अभी तक के हिन्दी साहित्य ने जहाँ भी क्लैसिकी ऊँचाई पाई है हर जगह क्या अपनी सीमाओं के बावजूद स्त्री पक्ष का दबाव नहीं

दिखता| साहित्य में प्रेम की प्रमुखता समाज में प्रेम के अधिशेष(सरप्लस ऑफ लव) उत्पादन में रत स्त्रिओं के हस्तक्षेप के बिना क्या संभव है? लोक के उस दबाव में स्त्री चेतना का महत्व अनायास ही नहीं है| क्या 'कथा के मार्मिक प्रसंगों' की पहचान में कोई स्त्री दबाव नहीं ! मुख्य धारा के इतिहासों से संवाद का एक रास्ता इस ओर से भी बनता है| और तो और १९ वीं सदी के आखरी दशकों में खडी- बोली के आंदोलन ने ब्रज और तथाकथित उर्दू के खिलाफ जो हमला बोला उसने इस भाषा को 'मरदाना' बनाने की कोशिश की जो स्वाभविक रूप से 'हिंदी भाषा' की स्त्री को इससे बाहर किया जाना था,वरना यह तो स्वभावतः ही फेमनीन भाषा थी| क्या ही अजीब है कि पहले प्राकृत और स्त्रियों को साथ साथ देखा जाता था लेकिन १९वीं सदी के उपरोक्त आंदोलन ने जो इतिहास बनाया उसके चलते 'हिंदी' और 'मर्दों' को केवल साथ साथ देखा गया| यह अपनी ही परंपरा का निषेध था|

प्रो. तुलसीराम की किताब 'मुर्दहिया' के लोकार्पण पर नामवर सिंह ने कहा था कि इसे दलित आत्मकथा के नए रूप की शुरुआत मनानी चाहिए और वह इसे 'आत्मकथा' के बदले एक सर्जनात्मक कृति मानते हैं ,इसे कथाकृति बताते हैं ,उपन्यास की तरह पढ़ने की सलाह देते हैं. आखिर क्या कारण है कि नामवर सिंह आत्मकथा के इस विशेष नैरेटिव फॉर्म को पुराने नैरेटिव फॉर्म से कमतर बता रहे हैं? क्यों दलित लेखकों को इसी तरह के प्रयास किये जाने की सलाह देते हैं? क्या इसके पीछे दलित आत्मकथाओं में पुनरावृति की ऊब और टाइप्ड घटनाओं की प्रस्तुति से अलग एक ज्यादा सर्जनात्मक लेखन को प्रोत्साहन देने की ज़रूरत शामिल है? लेकिन क्या इस ज़रूरत के पोलिमिक्स के चक्कर में वो आत्मकथाओं की अंतर्वस्तु में शामिल अनुभूति की दावेदारी को ही विस्थापित(डिसलोकेट) नहीं कर रहे हैं? इस रूप की विशिष्ट अंतर्वस्तु को पुराने आख्यान की अंतर्वस्तु से अलग करने कि बजाय वो पुराने आख्यान में ही इसे भी शामिल कर लेना चाहते है| ऐसा शायद नैरेटिव के भीतर से संवाद कायम करने की कोशिश के रूप में देखा जा सकता है, लेकिन यह कोशिश उस विशिष्ट रूप को नकार कर नहीं हो सकती| आत्मकथा के रूप में आख्यान में संकट का जो एक हल हमें मिला था उसकी उपेक्षा कर नामवर सिंह खुद अपनी ही स्थापनाओं की सार्थकता को खारिज करते प्रतीत होते हैं| संतों ने अपनी

अपार सर्जनात्मकता को भी 'आतम खबर' कहा था| इस 'आतम खबर' को नकार कर हम उनके साहित्य का मूल्यांकन नहीं कर सकते| ठीक उसी तरह स्त्री और दलित आत्मकथाओं की अंतर्वस्तु को नकार कर सृजनात्मकता की अपील नहीं कर सकते| आखिर यह आत्मकथा के रूपविशेष की ही अंतर्वस्तु थी जो नामवर जी को राहुल सांकृत्यायन की 'जीवन यात्रा' में न दिखी और न ही प्रेमचंद के वर्णनों में| क्या यह केवल सर्जनात्मकता थी या 'आत्मकथा' भी थी जो 'मुर्दहिया' को कई मामलों में सांकृत्यायन और प्रेमचंद से भी ऊपर रखने को विवश करती है!

कोई भी खास सामाजिक समूह जिन्हें अपनी आवाज़ उठानी होती है उन्हें नयी भाषा,नए ग्रन्थ,नया पाठ और साहित्य की नयी परिभाषा गढनी पड़ती है| और वह सामाजिक समूह इन सब के होने के इतिहास को जब लिखता है तो दरअसल वह अपना ही इतिहास लिख रहा होता है| शेल्डन पोलक ने पूरे दक्षिण एशिया के साहित्येतिहास लेखन को अब तक प्रत्यक्षवादी या विधेयवादी ही पाया है.[1]उन्होंने ध्यान दिलाया है कि दक्षिण एशिया में साहित्य इतिहास की विधा जिस तरह की रही है और अब तक है , उसमे बहुत सारे मुद्दों को एक नियम की तरह बाहर ही रखा गया है| मसलन किस प्रकार साहित्यिक भाषाओं का सृजन हुआ, उनके इतिहास किस प्रकार नैरेट हुए, और दोनों की संगति सामाजिक और राजनितिक परिस्थितिओं से कैसी रही है| विधेयवादी इतिहास अपने ही पूर्वानुमानों और शर्तों से नावाकिफ रहा है| उन्होंने उस चुनौती की ओर ध्यान दिलाते हुए कहा कि:

> "चुनौती यह है कि साहित्य इतिहास को दुबारा कैसे सोचा जाए| जहाँ उन प्रश्नों से वह अपने को बाहर निकाल सके जो यूरोपीय साहित्येतिहास के औपनिवेशिक,विधेयावादी या राष्ट्रवादी प्रतिमानों ने उस पर थोप दिए हैं(रूपवादी और थीमेटिक साहित्येतिहासों को छोड़ भी दें तो)| खासकर क्यों और कैसे साहित्यिक भाषाओं का उदय हुआ, किस तरह से कॉस्मोपोलिटन और वर्नाकुलर पहचानों ने एक

---

[1] शेल्डन पोलक, लिटरेरी हिस्टरी, रीजन, एंड नेशन इन साऊथ एशिया:इनटरोडक्टरी नोट; *सोशल साइंटिस्ट,वाल. २३,नंब. १०-१२, ऑक्टू –दिसंबर-१९९५;*पृष्ठ-१.

दूसरे को प्रभावित किया और इस प्रक्रिया में कैसे उनमे बदलाव आया, तथा भारतीय उपमहाद्वीप के साहित्य और उनके इतिहास पर सोचने का मतलब क्या है या अब तक कैसे सोचा गया है." [1]

इस पूरे महाद्वीप में शुरू से ही अंतरक्षेत्रीय साहित्यिक भाषाओं की उपस्थिति रही है और उनका अभिव्यक्ति के स्थानीय रूपों से लगातार एक गतिशील सम्बन्ध रहा है| यह एक तथ्य है कि संस्कृत, प्राकृत और कुछ हद तक अपभ्रंश एक समय तक जिस तरह अपनी सर्वोच्चता बनाये थे उन्हें देशी भाषाओं ने एक मज़बूत चुनौती पेश की| इन नयी साहित्यिक भाषाओं में कुछ ने तो बागी विचारधाराओं का वहाँ भी किया था| आमने सामने की इस चुनौती ने कई बार समझौते किये और सापेक्षिक सर्वोच्चता को मोल भाव कर स्थिर किया| इस संश्लिष्ट प्रक्रिया के पीछे काम करने वाले संस्कृति और सत्ता के संबंधों पर कम ही ध्यान दिया गया है| नयी देशी भाषाओं की साहित्य में उपस्थिति उन भाषाओं को बोलने वाले लोगों की सजग इच्छा थी| और इस इच्छा के पीछे काम करने वाली उन शक्तियों को पहचानना ज़रूरी है| इन भाषाओं में बनने वाली साहित्यिक संस्कृतिओं ने 'साहित्य' को कैसे परिभाषित किया,किन परिस्थितिओं में किसी बहुभाषी समाज ने साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए एक खास भाषा का चयन किया, श्रोताओं और दर्शकों की पहचान को बनाने और उनकी संख्या को बढ़ाने के लिए कोई सांस्कृतिक रणनीति अपनायी गयी तो उसके पीछे के उद्देश्य क्या थे? ये सारे प्रश्न हमें साहित्य इतिहास पर पुनर्विचार के लिए प्रस्तुत करते हैं| इनकी व्याख्याएं हिंदी में ज़्यादातर धार्मिक या साम्प्रदायिक या फिर जातीय निर्माण कि प्रक्रिया से जोड़ कर हुई है| और ये सभी व्याख्याएं असंतोषजनक हैं और यूरोपीय आधुनिकता के प्रतिमानों से तय हुए हैं| दूसरे अध्याय में मैं आदिकाल और भाषा के प्रश्नों पर विचार करते हुए पोलक के निष्कर्षों पर बात करूँगा| सांस्कृतिक परिवर्तन और सांस्कृतिक पहचान से सम्बंधित वर्तमान सैद्धांतिकी पर भी एक बात चीत उसी अध्याय में होगी| पोलक अपने उद्देश्यों को साफ़ करते हुए कहते हैं कि:

---

[1] वही, पृष्ठ-२

"क्षेत्राधारित या राष्ट्रीय या प्रांतीय संस्कृतियों के पूर्व-प्राप्त विचारों से शुरू करने कि बजाय हम यह जानना चाहते हैं कि ये सीमाएं कैसे लगातार बदलती रही थीं| पहले से साहित्य की परिभाषा तय करने कि बजाय हम जानना चाहते हैं कि साहित्य को क्या समझा जाता रहा है और स्थानीय निर्णयों में समय के अनुसार क्या परिवर्तन हुए हैं| मौखिक को लिखित से अलग करने के बदले, या यूरोप से प्रिंट के आने के बाद सभी जगह एक ही तरह कि प्रक्रियाओं के शुरू होने के यांत्रिक अनुमान के बदले हम जानना चाहते हैं कि मौखिक,पांडुलिपियों और छपाई संस्कृतियों के कई बार सामानांतर उपस्थिति का साहित्य से क्या रिश्ता रहता आया है| हम जानना चाहते हैं कि दक्षिण एशिया के लोग खुद अपने साहित्य के अतीत के बारे में क्या सोचते हैं ,उनका कालबोध उन्हें कैसे स्वीकार करता है; हम ये जानना चाहते हैं कि उन्होंने अपना कैनन खुद कैसे निर्धारित किया था, और किन मानकों ,सौन्दर्यबोधक मूल्यों अथवा पाठक के रूप में अपनी कौन सी आकांक्षाओं को इस कैनन में शामिल किये आए हैं , न कि पहले से मान लें कि ये कैनन औपनिवेशिक निर्मितियां ही हैं| हम साहित्यिक आलोचना लिखना नहीं चाहते बल्कि इतिहास लिखना चाहते हैं कि भिन्न साहित्यिक संस्कृतियों में साहित्य की आलोचनाएँ कैसी–कैसी हुई आयीं हैं; ये जानने के लिए कि कैसे और किन मानकों के तहत परम्पराओं ने खुद व्याख्याएं ,मूल्यांकन और निर्णय किये हैं, न कि हम लगातार केवल अपनी ही मान्यताओं ,व्याख्याओं और निर्णयों को उनपर थोपते रहें."[1]

पोलक ने ध्यान दिलाया है कि यूरोप के विपरीत दक्षिण एशिया में देशी भाषाओं और साहित्यों के उदय ने कभी अपवर्जन की नीति नहीं अपनायी जैसा कि यूरोप में हुआ| यूरोप में देशी भाषाओं ने आपस में जिस प्रतिस्पर्धा को जन्म दिया उसकी एक परिणति राष्ट्र-राज्यों के रूप में हुई| जबकि दक्षिण एशिया कि नयी देशी भाषाओं ने कभी द्वेष और अपवर्जन के तहत काम ही नहीं किया और इस प्रकार राष्ट्रीय अस्मिता के निर्माण का यूरोप जैसा प्रयास यहाँ नहीं हुआ|

---

[1] शेल्डन पोलक.इनट्रोडक्सन इन *लिटरेरी कल्चर्स इन हिस्टरी: रीकंस्ट्रकसन फ्रॉम साऊथ एशिया*, एड.- शेल्डन पोलक: पृष्ठ-१५; ओ.उ.प., दिल्ली:२००४.

और इस प्रकार सांस्कृतिक और राजनीतिक सिद्धांत जो यूरोपीय राष्ट्र राज्यों के लिए प्रयुक्त हुए हैं ,जब सभी गैर यूरोपीय समाजों पर आजमाए जाते हैं तो उस समाज के पूरे इतिहास को ही विद्रूपित कर देते हैं| तब उस समाज के भीतर भाषा और पहचान तथा पहचान और राजनीति संबंधी चिंतन एक गलत रास्ता अख्तियार कर लेती है[1]| रामविलास शर्मा ने यूरोपीय देशी भाषाओं के उदय और राष्ट्र राज्य तक उसके विकास को बार-बार सामने रख कर हिंदी जाति संबंधी अपनी धारणा को पुष्ट करने की कोशिश की है| और इस प्रकार वही गलती करते रहे जिसकी ओर पोलक इशारा कर रहे हैं| पोलक ने ध्यान दिलाया है कि वर्नाकुलर के उदय के साथ ही साथ कुछ आगे पीछे समूचे यूरेशिया में आरंभिक आधुनिकताओं की शुरुआत भी हुई थी| और इस प्रकार रामविलास जी की कुछ मान्यताओं को एक भिन्न पैराडाइम में आरंभिक आधुनिकताओं के सिद्धांतकारों ने फिर से बहस में ला दिया है| कवि कबीर की खोज के बहाने पुरुषोत्तम अग्रवाल ने जो इतिहास दृष्टि सामने रखी है वहां उत्तरौपनिवेशिक इतिहास दृष्टियों का एक कोलाज दिखाई देता है, जहाँ साहित्यिक-संस्कृति का इतिहास, साहित्य के इतिहास को प्रभावित करता है और साहित्य का इतिहास संस्कृति के इतिहास में नया आयाम जोड़ता है और साथ-साथ औपनिवेशिक आधुनिकता के कैनन से हिंदी साहित्य के भक्ति काल को मुक्त करने का दावा भी है.

साहित्य इतिहास में संदर्भीकरण की समस्या बड़ी महवपूर्ण है| किसी टेक्स्ट का कॉन्टेक्स्ट कैसे समझा जाए यह इतिहास की बड़ी समस्या रही है| आमतौर पर किसी साहित्यिक रचना के काल का पूरा सामाजिक इतिहास लिख देने से माना जाता है हमने सन्दर्भ का पता लगा लिया है| रचना के भीतर उस सामजिक इतिहास की विशेषताएँ खोज निकालने में साहित्य-इतिहास अपना साहित्यिक मूल्यांकन का कार्यभार संपन्न मानता है| इसीलिए आम तौर पर साहित्य इतिहास सामजिक इतिहास ही मालूम देने लगता है| अगर इस तरह हम कॉन्टेक्स्ट से चलते हैं तो साहित्यिक रचनाओं की महत्ता और अन्य रचनाओं से उसकी भिन्नता की व्याख्या असंभव हो जाती है| आमतौर पर ये माना जाता है कि कोई रचनाकार अपने

---

[1] शेल्डन पोलक. *द लैंगुएज़ ऑफ द गोड्स इन द वर्ल्ड ऑफ द मेन:संस्कृत कल्चर, एंड पॉवर इन प्रिमाडर्न इंडिया*; पृष्ठ-२९-३०. यूनिवर्सिटी ऑफ कलिफोर्निया प्रेस, लन्दन :२००६.

आसपास के सामाजिक,राजनैतिक और आर्थिक आदि परिस्थितिओं तथा पहले के साहित्य की विरासत के बीच ही चूँकि रचना करता है इसीलिए इन सब का एक सामान्य परिचय रचना के निर्माण और उसकी महत्ता को साहित्य इतिहास में स्थापित कर देंगे|[1] किसी रचना के सन्दर्भ की व्याख्याएं इतिहास के किसी विशिष्ट मॉडल के आधार पर होती हैं| उसके बाद भी टेक्स्ट और कॉन्टेक्स्ट के बीच मध्यस्थता करने वाले सिद्धांतों के सामने यह प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाता है कि किस रस्ते, किस प्रक्रिया , या घटनाओं की किस श्रृंखला के द्वारा कॉन्टेक्स्ट, टेक्स्ट पर अपना प्रभाव छोड़ता है| और अंततः रचना को किसी सामाजिक या राजनितिक तथ्य के सामने रख कर उसकी व्याख्या कर दी जाती है, और बताया जाता है कि ये तथ्य ही रचना के कारक हैं| और इसके पीछे यह मान्यता काम करती है कि "हम सामान्य संभावनाओं से विशिष्ट वास्तविकताओं को समझ सकते हैं."[2] कुछ ऐसी ही समस्या के बारे में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी एक लेख लिखा था.

उस लेख का नाम था 'साहित्ये ऐतिहासिकता'| इसका हिन्दी अनुवाद अमृत राय ने किया है 'साहित्य में ऐतिहासिकता'[3]और अंग्रेजी अनुवाद रंजीत गुहा ने किया है 'Historicality in literature'[4]. निबंध की शुरुआत में ही ऐसा लगता है मानो रवीन्द्रनाथ इतिहासकारों से थोड़े नाराज़ हैं|

"हमलोग इतिहास के द्वारा पूरी तरह परिचालित होते हैं, यह बात मैंने बार-बार सुनी है और बार-बार भीतर-ही-भीतर खूब जोर से सर हिलाया है| इस तर्क का समाधान मेरे हृदय में ही है, जहाँ पर मैं और कुछ नहीं केवल कवि हूँ. वहाँ पर मैं सृष्टिकर्ता हूँ, अकेला हूँ , मुक्त हूँ|

---

[1] रेने वेलक, "द फॉल ऑफ लिटरेरी हिस्टरी", *द अटैक ओंन लिटरेचर एंड अदर एसेस.* पृष्ठ-७५-७६;यूनिवर्सिटी ऑफ नोर्थ करोलिना प्रेस, चैपल हिल:१९८२.

[2] आर.एस.क्रेन, *क्रिटिकल एंड हिस्टोरिकल प्रिंसिपलस ऑफ लिटररी हिस्टरी.* पृष्ठ-५३;यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस;शिकागो:१९७२.

[3] देखें, रवीन्द्रनाथ, *रवीन्द्रनाथ के निबंध, भाग-२*, अनुवादक- अमृत राय,पृष्ठ-३७८. साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली:१९९५.

[4] देखें, रंजीत गुहा. *हिस्टरी एट द लिमिट ऑफ वर्ल्ड हिस्टरी.* पृष्ठ-९५, कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस, कोलंबिया:२००२.

बाहर की अधिकतर घटनाओं के जाल में बंधा हुआ नहीं हूँ| ऐतिहासिक पंडित जब मुझे मेरे उस काव्य-सृष्टि के केंद्र से घसीट कर बाहर ले आता है तो मुझे वह चीज़ असह्य हो जाती है"[1].

इसके बाद वह कवि जीवन की आरंभिक सूचना देते हुए अपने बचपन के किसी एक दिन की तीन घटनाओं का ज़िक्र करते हैं| पहली घटना है सर्दी की उस सुबह में नारियल के कांपते हुए पत्तों पर सूरज की रोशनी में ओस की झिलमिलाती बूंदों को देखने के लिए सुबह उठना| दूसरी घटना है शाम के साढ़े चार बजे स्कूल से लौटते ही अपने तितल्ले मकान के ऊपर घिर आये घने नीले बादलों को देखना| और तीसरी घटना है जब वह एक धोबी के घर से आये गधे को चरते हुए देखते हैं और जिसकी पीठ को एक गधी बड़े प्यार से चाटती रही थी| हर घटना के वर्णन के बाद रवीन्द्रनाथ लिखते हैं की यह उनका अपना अद्वितीय अनुभव था. 'इसके पीछे इतिहास का कोई खेल नहीं था'. वह कहते हैं की "कवि जो है सो यही"| इसे वह उस दिन का इतिहास कहते हैं| इसे हम ऐतिहासिकता के बड़े सन्दर्भ में समझने की कोशिश कर सकते हैं| लेकिन इन घटनाओं से उनके कवि रूप में विकास के इतिहास से क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न में यह पूर्वकल्पना शामिल है कि किसी भी विकास का आरंभ तब तक नहीं हो सकता जब तक की कोई ऐसी आरंभिक घटना न पहचान ली जाये जो वस्तुतः घटित हुई थी| सामान्य बोध में वस्तुनिष्ठ यथार्थ की जो धारणा है वह ऐसे प्रश्नों के पीछे काम करती है| यहाँ यथार्थ या वस्तुगत और संभाव्य एक साथ उपस्थित होता है| जबकि रवीन्द्रनाथ के इन अनुभवों में एक संभाव्य कवि के अनुभव है| और ये घटनायें उनके कवि के रूप में विकास के इतिहास से सम्बंधित हैं| लेकिन इन घटनाओं में ऐसा कुछ नहीं है जिसके सहारे उनका कवि होना साबित होता है| एक तरह से ये संभाव्य कवि का प्राक्-इतिहास है| और इस इतिहास में उस कवि-इतिहासकार का कवि बनने की संभावना की पहचान मात्र है| यहाँ कोई शुरुआत नहीं पहचानी जा सकती है| वो आरंभिक घटनाएँ जड़ नहीं हैं| इनका स्वयं में एक जीवन है- जिसकी गति किसी ओर इंगित है-लेकिन किस ओर यह अभी पता नहीं| ऐसी प्रवृति है जो कहाँ ले जाएगी ज्ञात नहीं| दरअसल रवीन्द्रनाथ संभावना को 'वस्तुगत' की जगह रख कर और अपने कवि- जीवन के आरंभिक क्षणों

---

[1] देखें, रवीन्द्रनाथ, *रवीन्द्रनाथ के निबंध, भाग-२*, अनुवादक- अमृत राय,पृष्ठ-३७८. साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली:१९९५

को एक झीनी संभावना के रूप में प्रस्तुत कर ऐतिहासिकता को सामान्य इतिहासकारी की सीमाओं से बाहर ले जा रहे हैं| इस प्रकार की ऐतिहासिकता भी तथ्यों कि मांग करती है| लेकिन ये तथ्य "किसी जड़ पत्थर की तरह उपस्थित रहने वाले तथ्य से सत्तामूलक रूप से पृथक होंगे"[1]. ऐसे तथ्यों की तथ्यता(factuality) को हाइडेगर 'वस्तु-बद्धता'/'तथता'(facticity) कहता है.[2]

रवीन्द्रनाथ इस होने की 'तथता' को ही अपनी आरंभिक सूचना में व्यक्त कर रहे हैं| यह प्रस्तावना कुछ-कुछ उसी तरह की है जैसे नाटक में पर्दा उठने और अभिनेताओं के आने के बीच में होती है| वह बचपन के इन अनुभवों को उन संकेत चिह्नों की तरह लेते हैं जो कवि को कवि होने की आत्म पहचान की ओर ले जाता है. "इसमे किसी इतिहास का सांचा नहीं है"| लेकिन इस देखने में ही "कवि जो है सो है"| वह कहते हैं "उस दिन की बात आज भी मेरे मन में है, लेकिन उस दिन के इतिहास में मुझको छोड़ कर और किसी दूसरे व्यक्ति ने उन बादलों को उन आँखों से नहीं देखा और पुलकित नही हुआ| यहीं पर दिखाई दिया अकेला रवीन्द्रनाथ"| इस तरह इतिहासकरी में केवल सामान्य इतिहास को ही शामिल करने से उस विशिष्ट इतिहास का निषेध हो जाता है जो कि रवीन्द्रनाथ का सर्जक मन अपनी उपस्थिति में प्राप्त करता है| "अपने सृष्टि-क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ अकेला है, कोई इतिहास उसको साधारण के साथ नहीं बांधता| इतिहास जहां पे साधारण था वहां पर वह ब्रिटिश सब्जेक्ट था, पर रवीन्द्रनाथ न था| वहाँ पर राष्ट्रीय परिवर्तन की चित्र-विचित्र लीला चल रही थी लेकिन नारियल के पत्तों पर जो रोशनी झिलमिला रही थी वह ब्रिटिश गवर्नमेंट की लाई हुई चीज़ न थी... जो सृष्टिकर्ता है उसके लिए सृष्टि का उपकरण जुटाता है, थोड़ा बहुत इतिहास , थोडा बहुत उसका सामाजिक परिवेश; लेकिन यह उपकरण उसको बनाता नहीं|"

---

[1] देखें, रंजीत गुहा. *हिस्टरी एट द लिमिट ऑफ वर्ल्ड हिस्टरी.*पृष्ठ-७९, कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस, कोलंबिया:२००२.

[2] वही

इसलिए यहाँ रवीन्द्रनाथ एक तो सामान्य इतिहासकारी को समय के उस नैरेटिव को भी समझाने की कोशिश कर रहे हैं जो होने की 'तथता' में गतिशील है, और फिर सामान्य इतिहास को सृजन के विशिष्ट रूप का नियामक मानने की गलती पर इतिहासकारों से खिन्न भी हैं| वह लिखते हैं

> " बात यह है कि सृष्टिकर्ता अपनी रचनाशीलता में अकेला काम करता है| वह विश्वकर्मा के ही सामान अपने को देकर रचना करता है| उस दिन कवि ने जो ग्रामचित्र देखे निसंदेह उनमें राष्ट्रीय इतिहास का आघात-प्रतिघात था| लेकिन उसकी सृष्टि में मानव-जीवन के उस सुख-दुःख का इतिहास प्रतिबिंबित हुआ था जो सारे इतिहास का अतिक्रमण करके बराबर चला आ रहा है| कृषि-क्षेत्र में, गावं के रीति-रिवाजों में, अपने दैनंदिन सुख-दुःख को लिए दिए- कभी मुग़ल राज्य में , कभी अंग्रेजी राज में- उसकी अति सरल मानवता की अभिव्यक्ति बराबर चली आ रही है- वही प्रतिबिंबित हुई थी गल्प-गुच्छ में,कोई सामंत-तंत्र नहीं, कोई राष्ट्रतंत्र नहीं| आजकल के समालोचक जिस विस्तीर्ण इतिहास के बीच अबाध संचरण करते हैं उसका कमसे कम बारह आना तो मैं जानता ही नही| शायद मुझे इसीलिए मुझे और भी ज्यादा चिढ़ होती है| और मेरा मन कहता है, 'चूल्हे में जाए तुम्हारा इतिहास'|"

साहित्य के इतिहास पर रवीन्द्रनाथ की इस टिपण्णी से क्या हम साहित्य-इतिहास लेखन पर पुनर्विचार का कोई सूत्र नहीं पाते!

अध्याय-२

'हिंदी साहित्य का आदिकाल' और इतिहास-लेखन की समस्याएं'

२.१ आरम्भ: क्या है आरम्भ

इतिहास लेखन में 'उद्भव' या 'शुरुआत' का प्रश्न हमेशा ही उलझनों से भरा होता है | हम जिसे हिंदी साहित्य का आदिकाल कहते हैं वह भी ऐसे ही 'शुरुआत' या 'आरम्भ' के सवालों से जुड़ा है | हर शुरुआत के साथ यह डर होता है कि उससे भी पहले का कोई साक्ष्य उसे अपने पद से च्युत कर देगा | और इस तरह हम उस गलत रास्ते भी जा सकते हैं जो यह मानता है कि कोई 'शुरुआत' होती ही नहीं है | क्योंकि हर कृति की कोई पूर्ववर्तिनी कृति होगी और उसकी भी पूर्ववर्तिनी कोई और, और इस प्रकार 'शुरुआत' हमेशा आविष्कृत होने की प्रक्रिया में स्थगित होती रहेगी | सांख्य दर्शन का 'सत्कार्यवाद' इसी तरह की एक दार्शनिक प्रपत्ति है| इसके अनुसार हर प्रभाव कारण में पहले से ही उपस्थित होता है, चाहे वह एक संभावना के रूप में ही हो | और इसीलिए कोई भी प्रभाव एक दम से नया नहीं हो सकता है. दूसरी ओर न्याय-वैशेषिकों के यहाँ 'असत्कार्यवाद' या 'आरम्भवाद' के रूप में ऐसी मान्यता है जहाँ प्रभाव कारण से भिन्न माना जाता है और हर प्रभाव नया आरंभ होता है | इन दोनों तरह की दार्शनिक मान्यताओं में आरंभ का प्रश्न या कारणत्व की व्याख्या दो विपरीत छोरों में स्थित है. लेकिन इन दोनों स्थितिओं का संश्लेष हमें 'आरम्भ' के प्रश्न की बेहतर समझदारी दे सकता है | दरअसल शुरुआत 'विरुद्धों की एकता' को दिखाता है, जितना 'होने' की उतना ही 'न होने' की भी |

प्रभाव कारण में पहले से उपस्थित भी रहता है और नहीं भी; यह संभावनाओं का वास्तविक होना भी है और एक नयी शुरुआत भी |[1]

शुरुआत की अवधारणा इतिहास में एक विकासात्मक प्रतिदर्श के अनुसार ही तय होती आयी है| आम तौर पर ये माना जाता है कि साहित्यिक परम्पराएं एक विकसनशील रूख दिखाती हैं | किसी साहित्यिक प्रवृत्ति/विधा/कृति आदि के पीछे असफलताओं या गुमनामी का एक लंबा पूर्व इतिहास शामिल होता है | यह मान्यता संस्कृति के दूसरे क्षेत्रों से हू-ब-हू उधार ली गयी होती है | मसलन सूर के पदों के बारे में आचार्य शुक्ल की यह मान्यता कि 'चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक रचना होने पर भी ये इतने सुडौल और परिमार्जित हैं' कि 'सूरसागर किसी चली आती हुई गीतकाव्य परम्परा का – चाहे वह मौखिक ही रही हो – पूर्ण विकास प्रतीत होता है'|[2] और आगे के इतिहास लेखकों और आलोचकों ने भी इस विकासात्मक प्रतिदर्श का समर्थन ही किया है |

लेकिन क्या साहित्य में हमेशा ऐसा होता है? यथार्थवादी चित्रकला के इतिहास की तरह क्या हम साहित्य में भी वैज्ञानिक- जैविक विकास की अवधारणा का उपयोग कर सकते हैं? वस्तुओं के प्रदर्शन की एक तार्तमिक शैली जैसी यथार्थवादी चित्रकला में विकसित हुई जहाँ कलाकार लगातार दक्षता प्राप्त करते गए, साहित्य में कई बार ऐसी पद्धति नहीं अपनायी जाती|[3] साहित्य इतिहास में यह प्रतिदर्श काम नहीं करता | हम इतिहास के किसी मोड़ पर श्रेष्ठ और प्रौढ़ (प्रौढ़ शब्द में भी एक जैवकीय धारणा अन्तर्निहित है!) रचनाओं को सामने पाते ही उसकी परम्परा ढूंढने में ज्यादा दिलचस्पी दिखाने लग जाते हैं | मसलन कबीर को सामने पाकर हम नाथों की परम्परा में उन्हें 'फिट इन' करने लगते हैं, जोगी की कुल परंपरा में शामिल कर

---

[1] देखें, देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय. *व्हाट इस लिविंग एंड व्हाट इस डेड इन इंडियन फिलोसोफी*, पृष्ठ-९२-९३.पी.पी.एच.नई दिल्ली:२००१.;हालाँकि ये दोनों दार्शनिक प्रपत्तियां इस वस्तु जगत की उत्पत्ति के कारण रूप में एक आदिम पदार्थ की कल्पना से निःसृत हुई है, फिर भी अपने तर्क पद्धति में विपरीत रास्ता अख्तियार करती हुई यह भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में शुरुआत के प्रश्न संबंधी दृष्टिओं में भी अपना दखल रखती है.

[2] आचार्य रामचंद्र शुक्ल. *हिंदी साहित्य का इतिहास*, पृष्ठ-१३१. प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली:२००९. देखें आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी. *हिंदी साहित्य का आदिकाल*, पृष्ठ-११७. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ,पटना:१९८०.

[3] देखें, शेल्डन पोलक. *द लैंगुएज़ ऑफ द गोड्स इन द वर्ल्ड ऑफ द मेन:संस्कृत कल्चर, एंड पॉवर इन प्रिमाडर्न इंडिया* .पृष्ठ- २८४. यूनिवर्सिटी ऑफ कलिफोर्निया प्रेस, लन्दन :२००६

लेते हैं | यह मानते हुए भी कि कबीर हू-ब-हू नाथपंथी नहीं थे महिमा 'कबीरनाथ' की ही बखानी जाने लगती है |[1]इस प्रकार की परम्पराएं केवल आधुनिक काल की निर्मितियां नहीं हैं बल्कि प्राक्-आधुनिक समय में भी बनायी और खोजी गयीं थीं| कबीर के बारे में ऐसी कितनी ही बनायी गयी परम्पराओं का मनोरंजक उद्घाटन पुरुषोत्तम अग्रवाल ने अपनी किताब *कबीर की कविता और उनका समय* में किया है|

ऐसे ही विकासात्मक इतिहास के प्रतिदर्श को अपनाने के कारण भाषाओं के आगे बढ़ी हुई 'अवस्थाओं' का ज़िक्र किया जाता है| संस्कृत, प्राकृत ,पाली, अपभ्रंश की सुगम नैसेनी लंबे समय तक भाषाओं के अध्ययन का आधार रही है| एक लंबे समय तक ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के प्रभाव में हमारे भाषा वैज्ञानिक भी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं को संस्कृत की पुत्रियां सिद्ध करते रहे| इनके अनुसार एक आदिभाषा होती है जिससे किसी भाषा परिवार की सारी भाषाएं उत्पन्न होती हैं| 'हिन्दी' भाषा अपभ्रंश से उत्पन्न हुई है, अपभ्रंश प्राकृत से और प्राकृत संस्कृत से उत्पन्न हुई है|

हम यह मान ही नहीं पाते कि इतिहास के किसी खास मोड़ पर, किसी खास क्षण में कुछ रचनाएँ 'परम्परा के नैरंतर्य में एक विस्फोट' की तरह होती हैं| और यह विस्फोट ही एक नए आरम्भ का सूचक होता है | शुरुआत ऐसे ही क्रम-भंगों से तय होती है | इस बात को नज़रंदाज़ करने के कारण हम विरोधाभासों के शिकार होते रहे हैं| एक तरफ हर चीज़ को परम्परा का सहज विकास साबित करना चाहते हैं और दूसरी ओर 'पहली कहानी', 'पहली कविता', 'पहला उपन्यास' खोजने की जिद भी रखते हैं | और दोनों ही स्थितिओं में हम यह पता करना भूल जाते हैं कि रचनारत व्यक्ति और उसका समाज उन चीजों को कैसे ग्रहण कर रहा था| कई बार जिसे हम शुरुआत मान बैठते हैं उसे रचना करने वाला परंपरा का अंग ही मानता होता है और जिसे हम किसी परंपरा का सहज विकास साबित करना चाहते हैं उसे तत्कालीन समाज नयी शुरुआत मानता होता है| इसीलिए कई बार आरंभ या शुरुआत वास्तव

---

[1] देखें, पुरुषोत्तम अग्रवाल. *अकथ कहानी प्रेम की:कबीर की कविता और उनका समय.* पृष्ठ-१५७.राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली: २०१०.

में परम्परा के अन्वेषकों द्वारा चुन लिया जाना ही होता है| परम्परा की खोज नए आरम्भ को इतिहास में खोज लेती है. वो किसी एक शुरुआत को मिटा के दूसरे को सामने रखती है. चुनिन्दा चयनों से नयी शुरुआत होती है. या फिर नए आरम्भ को ख़ारिज किया जाता है और हर चीज़ को पहले से ही उपस्थित सिद्ध किया जाता है| आदिमता की प्रेरणा और भ्रान्ति से वह संस्कृतियों, परम्पराओं (जैसे राष्ट्र ही को लीजिए) को बनाती हैं| या फिर किसी सांस्कृतिक शुरुआत को किसी खास परम्परा तक ही सीमित कर देती है- और यह भी जोर देती है कि कोई खास शुरुआत ही सफल रही है और परम्परा में संरक्षित रही है इसीलिए वही सही है| अन्य परम्पराओं का निषेध ऐसी शुरुआतों को पैदा करता है| लेकिन इससे टकराए बिना काम भी नहीं चलता है| इतिहासलेखन के लिए काल निर्धारण और आरम्भ के प्रश्नों से जूझना ज़रूरी है|

परम्परा के क्रमिक विकास की पहचान और परम्पराओं की खोज जितनी ज़रूरी है उतनी ही ज़रूरी है परम्पराओं के नैरंतर्य में क्रम भंग को पहचानना| हिंदी साहित्य के इतिहास को ज़्यादातर एक क्रम में ही देखा गया है , क्रम-भंगों पर कम ही ध्यान दिया गया है| जबकि हिंदी और भारत की अन्य आधुनिक भाषाओं का साहित्य में प्रयोग शुरू होना अपने आप में ही परम्परा में एक विस्फोट है| इस शुरुआत को किसी भी जैवकीय विकास की धारणा से नहीं समझा जा सकता है| देशी भाषाओं को साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना एक ऐसी प्रक्रिया है जो थोड़े बहुत काल भेद से पूरे यूरेशिया में शुरू हुई थी| इस परिघटना को शेल्डन पोलक देश्यभाषाकरण(vernacularization) कहते हैं| देश्यभाषाकरण की यह प्रक्रिया संस्कृति और सत्ता के संबंधों में भी एक नयी शुरुआत थी| लेकिन अपनी क्षेत्रीय भिन्नताओं के साथ इस प्रक्रिया को उत्प्रेरित करने वाले कारणों का निर्धारण अभी भी संतोषजनक नहीं है| भारतीय उपमहाद्वीप और यूरोप में साथ साथ शुरू होने वाली इस प्रक्रिया में कुछ ऐसे बुनयादी भेद हैं कि पश्चिमी या यूरोपीय इतिहास के सम्बन्ध में दिए गए सिद्धांतों और व्याख्याओं को भारतीय उपमहाद्वीप पर लागू करते ही बात गलत और उथले निष्कर्षों तक पहुँच जाती है| बहरहाल आगे इसकी चर्चा किंचित विस्तार से की जाएगी| यहाँ जो महत्वपूर्ण है वह है हिंदी साहित्य के आरम्भ के लिए एक स्पष्ट विभाजक रेखा के रूप में 'देश्यभाषाकरण' को पहचानना|

दक्षिण भारत की भाषाओं के विपरीत इस प्रक्रिया की शुरुआत उत्तर भारत में कुछ देर से हुई| दक्षिण में तमिल भाषा का साहित्य में प्रयोग सबसे पहले शुरू हुआ था| संगम युग के बाद एक लंबे समय तक तमिल साहित्य संस्कृत के मुकाबले कम लिखा गया और फिर उसमे करीब आठवीं शताब्दी इसवी के आसपास[1] नया उभार मिलता है| इसके कोई दो शताब्दिओं के अंतर पर तेलगु और कन्नड़ साहित्य के शुरू होने के आरंभिक प्रमाण मिलते हैं | और फिर १३वीं शताब्दी में मराठी भाषा का *लीलाचरित्र* (१२७८) हमारे सामने आता है| इसी के आसपास पाक पट्टन में बाबा फरीद (इसवी सन १२६५) अपनी रचनाओं के साथ हमें दिखाई पड़ने लगते हैं| उधर दिल्ली में खुसरो मियां (१२५३-१३२५) अपनी हिन्दवी रचनाओं को लिए मिलते हैं| जौनपुर में कोई १०० साल के भीतर मुल्ला दाउद (१३७९) ने अवधी में *चंदायन* लिख डाला और इनसे थोड़े सालों बाद ही विद्यापति(१३६०-१४५०) ने अपनी मैथिली में कोमलकान्त *पदावली* लिखी | इसी तरह हम देखते हैं कि ग्वालयरी महाभारत के साथ विष्णुदास (१४३५) स्थानीय महाकाव्य का सृजन कर रहे थे| और इसी के समानांतर कबीर आदि संतों की कविताएँ जनमानस तक पहुँचने लगी थी| इस तरह दक्षिण भारतीय भाषाओं से कोई तीन शताब्दी के बाद हिंदी भाषा में साहित्य सृजन की अविरल परंपरा की शुरुआत होती है| इस देरी के कारणों में फिलहाल न जाते हुए इतना ही कहना है कि हिंदी साहित्य की वास्तविक शुरुआत इतिहास में एक ऐसा क्षण है जब सम्पूर्ण यूरेशिया में सर्वदेशीय संस्कृत या लैटिन भाषाओं को विस्थापित कर देश्यभाषाओं में साहित्यिक अभिव्यक्तियां होने लगी| इस प्रकार 'देश्यभाषाकरण' की वृहत्तर प्रक्रिया में हिंदी साहित्य की अपनी विशिष्टताओं को रेखांकित करते हुए हिंदी साहित्य के आरम्भ पर चर्चा होनी चाहिए| हिंदी साहित्य के आदिकाल को जो आमतौर पर १००० इसवी से १४०० इसवी तक माना जाता है, उसे हजारीप्रसाद द्विवेदी अपभ्रंश साहित्य का ही बढ़ाव मानते हैं और हिंदी साहित्य की वास्तविक शुरुआत भक्तिकाल से मानते हैं| इस मान्यता के गंभीर निहितार्थ हैं|

---

[1] देखें, शेल्डन पोलक. *द लैंगुएज़ ऑफ द गोड्स इन द वर्ल्ड ऑफ द मेन:संस्कृत कल्चर, एंड पॉवर इन प्रिमाडर्न इंडिया* .पृष्ठ- २९१. यूनिवर्सिटी ऑफ कलिफोर्निया प्रेस, लन्दन :२००६

द्विवेदी जी का मानना है कि :

"दसवीं शताब्दी तक लोकभाषा का जो साहित्य प्राप्त होता है वह परिनिष्ठित अपभ्रंश का ही साहित्य है, उसमें हिंदी भाषा का रूप स्पष्ट नहीं हुआ है| परन्तु दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक के समय में लोकभाषा में लिखित जो साहित्य उपलब्ध हुआ है उसमें परिनिष्ठित अपभ्रंश से कुछ आगे बढ़ी हुई भाषा का रूप दिखाई देता है| ... वस्तुतः छंद, काव्यरूप, काव्यगत रूढ़ियों और वक्तव्य वस्तु की दृष्टि से दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक का लोकभाषा का साहित्य परिनिष्ठित अपभ्रंश में प्राप्त साहित्य का ही बढ़ाव है, यद्यपि उसकी भाषा उक्त अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न है| इसलिए दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के उपलब्ध लोकभाषा साहित्य को अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न भाषा का साहित्य कहा जा सकता है| वस्तुतः वह हिंदी की आधुनिक बोलियों में से किसी-किसी के पूर्व रूप में ही उपलब्ध होता है| यही कारण है कि हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखक दसवीं शताब्दी से इस साहित्य का आरम्भ स्वीकार करते हैं|"[1]

लेकिन अपने 'भक्ति-साहित्य' अध्याय के उपशीर्षक में साफ़ लिखते हैं 'वास्तविक हिंदी साहित्य का आरम्भ' | और कारण बताते हैं -

"इस प्रकार पंद्रहवीं शताब्दी के बाद सचमुच का लोकभाषा का साहित्य बना| भाषा इसकी वास्तविक और सच्ची है, शैली सहज और प्रसन्न|"[2]

इन कथनों के साथ 'भूमिका' का वह प्रसिद्ध कथन कि

"...भारतीय पांडित्य ईसा की एक सहस्त्राब्दी बाद आचार-विचार और भाषा के क्षेत्र में स्वभावतः ही लोक की ओर झुक गया था; यदि अगली शताब्दियों में भारतीय इतिहास की अत्यधिक महत्वपूर्ण घटना, अर्थात इस्लाम का प्रमुख विस्तार, न भी घटी होती तो

---

[1] हजारी प्रसाद द्विवेदी. *हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास*, पृष्ठ-३७.राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली:२००३.

[2] वही, पृष्ठ-७१.

भी वह इसी रास्ते जाता| उसके भीतर की शक्ति उसे इसी स्वाभाविक विकास की ओर ठेले लिए जा रही थी|"[1]

इन कथनों से यह तय है कि द्विवेदी जी के लिए लोक की ओर 'स्वभाविक' झुकाव की प्रक्रिया हजार इसवी के आस पास निर्णायक मोड़ पर पहुँच गयी थी और इसी समय से अपभ्रंश से किंचित भिन्न 'हिंदी की आधुनिक बोलियों में किसी-किसी के पूर्व रूप' वाली भाषा में लोक साहित्य की रचना होने लगी थी इसीलिए हिंदी साहित्य के आदि काल की शुरुआत हजार इसवी से मानी जाती है| लेकिन वास्तविक लोक साहित्य का आरम्भ तो भक्ति- साहित्य से ही हुआ था| अर्थात वास्तविक लोक साहित्य और लोक भाषा तो भक्ति साहित्य से ही आरम्भ हुई लेकिन इस आरम्भ की पृष्ठभूमि हजार इसवी के बाद से ही बनने लगी थी| इस मान्यता में दो भिन्न लेकिन पूरक अंतर्दृष्टियों का उन्मेष है| जैसा कि शुरू में ही कहा गया था कि आरम्भ के प्रश्न पर सांख्य दर्शन के 'सत्कार्यवाद' और न्याय-वैशेषिकों के 'असत्कार्यवाद' के संश्लेष से हम विरुद्धों की एकता वाली एक द्वंद्वात्मक इतिहास दृष्टि पा सकते हैं, जहाँ परम्परा और परम्परा भंग दोनों ही महत्वपूर्ण हो जाता है| अब तक द्विवेदी जी की बात करते हुए परम्परा के महत्व को ही केन्द्रीयता मिली है| लेकिन हमें ध्यान देना चाहिए कि 'वास्तविक हिंदी साहित्य का आरम्भ' कह कर वह इतिहास में क्रमभंग को ही रेखांकित कर रहे थे| यह ज़रूर है की ऐसा करते हुए भी वह अपभ्रंश के साहित्य को भी लोक भाषा का साहित्य मानते हैं | और यह मानते हैं कि भाषा की दृष्टि से भले ही वह हिंदी से भिन्न है लेकिन आगे की साहित्यिक परम्परा अपने काव्यरूपों , कथानक रूढ़ियों , छंदों आदि की दृष्टि से इस काल के साहित्यिक रिक्थ का इस्तेमाल करती है| लेकिन फिर दूसरी जगह यह भी कहते हैं कि:

"... यद्यपि साहित्य की दृष्टि से यह काल बहुत कुछ अपभ्रंश काल का ही बढ़ाव है, पर भाषा की दृष्टि से यह परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा की सूचना लेकर आता है| इसमें भावी हिंदी भाषा और उसके काव्यरूप अंकुरित हुए हैं|"[2]

---

[1] हजारी प्रसाद द्विवेदी. *हिंदी साहित्य की भूमिका*, पृष्ठ-२५.राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली:२००६.
[2] हजारी प्रसाद द्विवेदी.*हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास*, पृष्ठ-५६.राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली:२००३.

इस प्रकार मिला जुला कर वह भाषा और काव्यरूप दोनों ही दृष्टि से हजार इसवी से लेकर चौदह सौ इसवी तक के काल को हिंदी साहित्य का आदिकाल कहते हैं| फिर वास्तविक हिंदी साहित्य के आरम्भ का मतलब क्या है? और क्या अपभ्रंश सचमुच लोक भाषा थी? तो फिर भक्ति-साहित्य के वास्तविक लोक-साहित्य होने का मतलब क्या है?

अगर अपभ्रंश लोक भाषा थी और उसमें रचित साहित्य लोक साहित्य था तो फिर 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' में पायी जाने वाली भाषा कौन सी थी? बाबा फरीद , अमीर खुसरो और विद्यापति की भाषा कौन सी थी! स्वयं द्विवेदी जी ने नोट किया है कि 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' की भाषा से तत्कालीन बनारसी भाषा के स्वरुप पर अच्छा प्रकाश पड़ता है| "डॉ॰ मोतीचन्द्र ने 'संपूर्णानंद-अभिनन्दन-ग्रन्थ' में एक लेख लिख कर यह बताया है कि इस पुस्तक में तत्कालीन काशी की भाषा का रूप पाया जाता है| 'वेद पढ़ब, स्मृति अभ्यासिब, पुराण देखब, धर्म करब' , यह बारहवीं शताब्दी की बनारसी भाषा का नमूना है|... इसी प्रकार 'छात्रु गाऊँ या' में छात्र शब्द किसी अपभ्रंश पुस्तक की भाषा के सामान 'छत्तु' नहीं बन गया|... इस पुस्तक से और भी बहुत सी बातों का पता चलता है| महत्वपूर्ण यह है कि उस समय इस भाषा में कथा-कहानी का साहित्य रचित होने लगा था|"[1] जिस प्रकार काशी की तत्कालीन भाषा अपभ्रंश की आगे बढ़ी हुई भाषा नहीं बल्कि गुणात्मक रूप से भिन्न भाषा है और वास्तविक लोकभाषा है, उसी प्रकार विद्यापति की मैथलि और खुसरो कि हिन्दुई तथा दाउद की अवधी भी अपभ्रंश से भिन्न और वास्तविक लोक भाषाएँ थीं| चौदहवीं शताब्दी के आस-पास से दरअसल इन्हीं भाषाओं में साहित्यिक अभिव्यक्तिओं की परंपरा मिलनी शुरू होती है जो अन्यथा अपभ्रंश की 'अर्द्ध-सार्वत्रिकता' से दबी चली आयीं थीं| लेकिन द्विवेजी की यह मान्यता है कि उस समय का जो भी लोक साहित्य मिलता है वह अपभ्रंश या उसकी बढ़ी हुई अवस्था वाली भाषा में ही मिलता है इसलिए वह भी लोक साहित्य ही है!

असल में द्विवेदीजी यहाँ एक दुविधा के शिकार हैं| एक तरफ तो उनको इस बात का पूरी तरह अनुमान था कि अपभ्रंश से इतर लोक भाषा का साहित्य भी रचा जा रहा था लेकिन

---

[1] हजारी प्रसाद द्विवेदी. *हिंदी साहित्य का आदिकाल*, पृष्ठ-१९. बिहार- राष्ट्रभाषा- परिषद्, पटना: १९८०.

वह आज हमारे पास ठीक-ठीक उसी रूप में उपलब्ध नहीं है, इसीलिए उसके बारे में किंचित आभास देनेवाले अपभ्रंश भाषा के साहित्य को भी वह लोक साहित्य मान बैठते हैं| चूँकि हजार इसवी के आस-पास भारत का पांडित्य 'स्वभावतः' ही लोक की ओर झुक गया था ,इसलिए भी हजार इसवी के बाद 'लोक साहित्य' की प्रतिष्ठा के साथ हिंदी साहित्य या हिंदी जाति के साहित्य की शुरुआत बताकर वह उस क्रांतिकारी परिवर्तन को अपने इतिहास का आधार बना रहे थे| इस क्रम में वह इस बात को कुछ देर के लिए नज़रंदाज़ कर जाते हैं कि 'भारतीय चिंता की प्राणधारा' आचार,विचार और भाषा के क्षेत्र में जिस तरह लोक की ओर झुक गयी थी उसमे अपभ्रंश की 'अर्द्ध सार्वत्रिक संस्कृति' (quasi cosmopolitan culture) ने करीब तीन शताब्दियों तक प्रतिगामी भूमिका ही निभाई|[1] यह अकारण नहीं है कि दक्षिण भारतीय भाषाओं ने उत्तर भारत की अपेक्षा पहले ही अपनी क्रांतिकारी भूमिका अदा कर दी थी| दक्षिण भारतीय भाषाओं ने संस्कृत की सार्वत्रिक संस्कृति से अपने को पहले ही मुक्त कर लिया था, लेकिन उत्तर भारतीय 'लितराती' पर अपभ्रंश और संस्कृत की संस्कृति का लोक प्रदर्शनों और मौखिक साहित्यों में तो कुछ हद तक 'देश्यभाषाकरण' हो गया था परन्तु उन्हें लिखित और प्रभावी भूमिका में आने में कुछ वक्त लगा | काल के इस अंतराल में वह अंतर्विरोध तीव्रतर होता गया जिसके कारण अंततः देशीभाषाओं ने अपनी वर्त्तमान स्थिति प्राप्त की| और इस प्रकार साहित्यिक अभिव्यक्ति का एक सर्वथा नया ही सूत्र हमारे सामने आता है| इस सूत्र ने पुरानी सांस्कृतिक राजनीति को बदल दिया| इस आत्माभिव्यक्ति के अग्रदूत संत कवियों के सिवा और कौन हो सकते थे! कहना न होगा कि द्विवेदी जी इसीलिए वास्तविक हिंदी साहित्य का आरम्भ भक्ति–साहित्य से मानते हैं|

मध्यकाल का मुख्य अंतर्विरोध लोक और शास्त्र का अंतर्विरोध था | इसी अंतर्विरोध में लोक ने शास्त्र को अपनी ओर झुका लिया | और इसी वजह से देशी भाषाओं में रचनाएँ शुरू

---

[1] देखें, शेल्डन पोलक. *द लैंगुएज़ ऑफ द गोड्स इन द वर्ल्ड ऑफ द मेन:संस्कृत कल्चर, एंड पॉवर इन प्रिमाडर्न इंडिया* .पृष्ठ- ३९०-९५. यूनिवर्सिटी ऑफ कलिफोर्निया प्रेस, लन्दन :२००६

हुई| इस हिसाब से भारतीय प्राणधारा का वास्तविक विकास है भक्ति साहित्य| इसीलिए हिंदी साहित्य की वास्तविक शुरुआत है भक्ति-साहित्य , न कि वीरगाथाएं | और " इस तरह वह(द्विवेदीजी) विद्यापति की समस्या का भी समाधान ढूंढ निकालते हैं, जिन्हें आचार्य शुक्ल ने वीरगाथा काल के फुटकल खाते में डाल रखा था| विद्यापति असंदिग्ध रूप से आधुनिक भाषाओं में 'लिरिक' के पहले महान कवि थे |... द्विवेदी जी की दृष्टि में विद्यापति संक्रमण काल के ऐसे महत्वपूर्ण कवि हैं जिनका एक पाँव अपनी अवहट्ट कृति 'कीर्तिलता' के कारण आदिकाल में है तो दूसरा देशी भाषा में लिखित राधा कृष्ण लीला के सरस पदों की पदावली के कारण भक्ति-काव्य में| इस प्रकार द्विवेदी जी की इतिहास योजना में विद्यापति हिंदी साहित्य की प्राणधारा के मुख्य प्रवाह में हैं|"[1] ध्यान देने योग्य बात है कि विद्यापति अपने अवहट्ट कृति 'कीर्तिलता' के कारण 'आदिकाल' में हैं जबकि देशी भाषा की 'पदावली' के कारण भक्ति-काव्य में | तो फिर हिंदी साहित्य का आदिकाल अवहट्ट का काल हुआ या हिंदी का!

इसीलिए वास्तविक हिंदी साहित्य का आरंभ उस क्रम भंग से ही तय होगा जो 'देश्यभाषाकरण' को अपना एक्सक्लूसिव आधार बनाता है| प्राणधारा की खोज तो अवहट्ट/अपभ्रंश से होते हुए प्राकृत और संस्कृत तक चली जाती है| यह अकारण नहीं कि 'भूमिका' के लंबे परिशिष्ट में संस्कृत ,पाली , प्राकृत, अपभ्रंश के साहित्य का अध्ययन शामिल है| और साथ ही 'संक्षेप में वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्यों का परिचय करा देने की चेष्टा की गयी है' ताकि 'हिंदी साहित्य को सम्पूर्ण भारतीय साहित्य से विछिन्न करके न देखा जाए'| यह एक महती आवश्यकता थी जिसे द्विवेदी जी ने पूरा किया | विद्वानों ने उनकी इस प्राणधारा के विकास को तो लक्षित किया लेकिन उनके यहाँ इतिहास में क्रमभंग को 'वास्तविक आरम्भ' कहा गया है,इस पर कम ही चर्चा हुई|

लेकिन प्रश्न यह भी है कि लोक और शास्त्र का यह मुख्य अंतर्विरोध क्या एक ही समय में जावा, सुमात्रा, श्रीलंका, और दक्षिण भारत से लेकर जर्मनी, फ़्रांस, इंग्लैंड, और स्पेन आदि तमाम जगहों के 'मध्यकाल' की अनन्य विशेषता थी? क्या इसी मुख्य(primary) अंतर्विरोध ने

---

[1] नामवर सिंह. *दूसरी परंपरा की खोज*. पृष्ठ-८२. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली:२००३.

इन सभी जगहों पर हजार सहस्त्राब्दी के आस-पास 'देश्यभाषाकरण' की प्रक्रिया को जन्म दिया? अगर देश्यभाषाकरण की यह प्रक्रिया सम्पूर्ण यूरेशिया में एक समकालिक प्रक्रिया थी तो कोई न कोई एक बड़ा परिवर्तन ऐसा घटित हो रहा था जिसने इसके लिए उचित कारक मुहैय्या किये| दक्षिण एशिया और यूरोप में साथ-साथ होने वाली इस प्रक्रिया में कई संरचनात्मक समानताएँ तो थीं लेकिन कई मौलिक अंतर भी थे| विद्वानों ने इसके कारणों की बहुत सारी व्याख्याएं की हैं| फिलहाल इस सवाल को यहीं छोड़ कर हम यह देखने की केवल कोशिश करते है कि भारतीय चिंता की प्राणधारा के 'स्व-भाव' के विकास से 'चार आने' वाले 'प्र-भाव' का क्या रिश्ता था, और हिंदी साहित्य के आरम्भ सम्बन्धी विवाद में उससे किस प्रकार की समझदारी मिलती है|

इस 'चार आने' वाले प्रभाव के बारे में नामवर सिंह ने 'दूसरी परंपरा की खोज' में कुछ प्रकाश डाला है| उन्होंने इरफ़ान हबीब के हवाले से दिखाया कि तुर्कों के भारत आने से भले ही कोई युग परिवर्तन नहीं हुआ लेकिन तकनीकी और प्रौद्योगिकी परिवर्तन अवश्य हुए| तुर्कों के शासन के समय भारत में वस्त्र उद्योग, सिंचाई , कागज , चुम्बकीय कुतुबनुमा , समय सूचक उपकरण तथा घुड़सवार सेना प्रौद्योगिकी आदि क्षेत्रों में उल्लेखनीय विकास हुआ| इन परिवर्तनों से शिल्प और कृषि उत्पादन को बढ़ावा मिला,व्यापारिक गतिविधियां भी तीव्र हुई| ' नयी तकनीक में कुशल दक्ष कारीगर प्राप्त करने की ललक ने व्यक्तिगत नौकरी लागू करने को प्रोत्साहन किया होगा| कागज़ के प्रचलन से अखिल भारतीय बाजार के विकास में मदद मिली होगी|' और इन परिवर्तनों के कारण " भारतीय समाज के सामंती ढांचे के अंदर व्यापारिक पूँजीवाद की दिशा में अवश्य ही कुछ उल्लेखनीय परिवर्तन हुए होंगे, जो देर सवेर सामजिक संबंधों को प्रभावित करते हुए सांस्कृतिक-साहित्यिक परिवर्तन के लिए भी पृष्ठभूमि तैयार कर सके होंगे"|[1]इन परिवर्तनों ने निश्चित रूप से भक्ति आंदोलन के लिए आधार भूमि का निर्माण किया होगा| इसके साथ-साथ सामाजिक स्थिति में सुधार की आशा से धर्मांतरण भी हुए होंगे

[1] नामवर सिंह. *दूसरी परंपरा की खोज*. पृष्ठ-७५. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली:२००३

|[1]इनसे हिंदू जाति व्यवस्था में भी जगह जगह विश्रृंखलता के लक्षण दिखाई पड़े और दूसरी ओर उसे ज्यादा कठोर बनाने के भी प्रयत्न हुए| लेकिन इसके साथ-साथ जो एक बात और हुई वह थी तुर्क सत्ता के साथ उस स्पेस का निर्माण जिसने पहले से चली आती हुई संस्कृति के स्थानीकरण और राज्यसत्ता के क्षेत्रीकरण के साथ साथ होने वाले 'देश्यभाषाकरण' की अवरुद्ध प्रक्रिया को अपने भिन्न सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के कारण मुक्त कर दिया|

यह सही है कि 'इतिहास को नीचे से देखना' बहुत ही ज़रूरी है और एक स्तर पर पुराने इतिहास लेखन से एक क्रांतिकारी मुक्ति भी है ,परन्तु फिर भी हमें पेरी एंडरसन की इस बात का ख्याल रखना चाहिए कि:

> "आज जब 'इतिहास को नीचे से देखना' मार्क्सवादी और गैर मार्क्सवादी दोनों ही समूहों के लिए एक आवश्यक शर्त हो गया है, और इसने अतीत की हमारी समझदारी को बहुत फायदा भी पहुंचाया है , हमें ऐतिहासिक भौतिकवाद के उस मूलभूत स्वयंसिद्धि को भूलना नहीं चाहिए: कि वर्गों के बीच की सेकुलर लड़ाई अंततः समाज के राजनैतिक स्तर पर ही समाप्त होती है न कि आर्थिक या सामाजिक स्तर पर| दूसरे शब्दों में , यह राज्य का निर्माण और ध्वंस ही होता है जिसमे उत्पादन के आधारभूत परिवर्तनों की मुहर लगी होती है... एक 'ऊपर से बनता इतिहास' ... इसलिए 'नीचे से बनते इतिहास' से कम आवश्यक नहीं है."[2]अन्यत्र भी वह लिखता है कि : "... पूंजीवाद-पूर्व की उत्पादन पद्धतियाँ राजनीतिक , कानूनी और विचारधारात्मक अधिरचनाओं से हो कर ही परिभाषित हो सकती है क्योंकि इनसे ही अर्थेतर बाध्यताएं निर्धारित होती हैं जो उन्हें विशिष्ट बनाती हैं"|[3]

---

[1] देखें रोमिला थापर. *पूर्वकालीन भारत:आरम्भ से १३०० ई. तक* (अनु. आदित्य नारायण सिंह), पृष्ठ-५२२-५३२.हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय. दिल्ली: २००९.तथा हजारी प्रसाद द्विवेदी. *कबीर,* (ग्रंथावली, खंड ४)की प्रस्तावना में उन्होनें विस्तार से इस धर्मान्तरण की प्रक्रिया और उससे जाति-व्यवस्था पर पड़े प्रभाव को रेखांकित किया है. उनकी इस प्रस्तावना की सारी बातों से आज सहमत नहीं हुआ जा सकता लेकिन इस विषय में उनकी अंतर्दृष्टि बहुत महत्वपूर्ण है और इस दिशा में इतिहासकारों ने भी अपनी सहमतियाँ मौके मौके पर व्यक्त की हैं.

[2] पेरी एंडरसन. *द लिनिएजेस ऑफ द एब्सोल्युटिस्ट स्टेट* , पृष्ठ-११. वरसो एडिसन, लन्दन: १९७९.

[3] वही, पृष्ठ- ४०४

इसीलिए राजनीति के चरित्र के साथ संस्कृति के सम्बन्ध को अनदेखा नहीं किया जा सकता | तुर्क सत्ता के आगमन ने पहले से बन रहे राज्य की संरचनाओं में क्या क्या परिवर्तन किये उसके विस्तार में न जाते हुए केवल हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि स्थानीय राज्यों के उदय के साथ साथ जो क्षेत्रीय और अंतरक्षेत्रीय संस्कृतियों के बनने और स्वीकार किये जाने के बीच का द्वंद्व था उसमे तुर्क सत्ता या सल्तनत काल में क्या परिवर्तन हुए|

उत्तर भारत में तीसरी शताब्दी के आस-पास राजकीय अभिलेखों की भाषा के रूप में संस्कृत ने प्राकृत को पूरी तरह से विस्थापित कर दिया था| जबकि दक्षिण भारत में यह कार्य चौथी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में संपन्न हुआ|[1] गुप्त काल के उत्तरार्द्ध तक संस्कृत पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में शिलालेखों की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी थी| इसके साक्ष्य भारत के बाहर दक्षिण-पूर्व एशिया में भी उपलब्ध होते हैं और पांचवीं शताब्दी में जावा ,कम्बोडिया,विएतनाम, लाओस आदि में भी अभिलेखों की भाषा संस्कृत ही हो गयी थी|[2]इन सारी जगहों पर एक विशिष्ट प्रकार की शैली का इस्तेमाल किया जाता था और अलंकृत काव्य की रूढ़ियां भी प्रयुक्त होती थीं| इन शिला लेखों की शैली और भाषा का पार-क्षेत्रीय(trans local/supra-local) संस्कृति और राजनीति से एक गहरा रिश्ता दिखता है| गुप्तोत्तर काल की करीब दो और तीन शताब्दिओं के भीतर दक्षिण भारत में द्विभाषिक अभिलेखों के प्रमाण मिलने लगते हैं| इन अभिलेखों या दानपत्रों आदि में पहले तो संस्कृत में एक लंबी प्रशस्ति होती है| जो राजा द्वारा पूजित देवता के आह्वान से शुरू होकर उनके उद्भव मिथक तक पहुंचती थी और सम्बंधित राजवंश का ऊँचा स्थान प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया जाता था| पूर्ववर्ती राजाओं का सम्बन्ध बहुधा पुराणों या महाकाव्यों के वीरनायकों से जोड़ दिया जाता था, जिसके

---

[1] देखें डी.सी. सरकार. *इंडियन एपिग्राफी*, पृष्ठ-४०. मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली: १९९६. देखें रिचर्ड सोलोमन. *इंडियन एपिग्राफी: ए गाइड टू द स्टडी ऑफ इन्स्क्रिप्सनस इन संस्कृत, प्राकृत एंड द अदर इंडो-आर्यन लैंगुएजेस*, पृष्ठ-९०-९२.न्यू योर्क : १९९८.

[2] देखें रिचर्ड सोलोमन. *इंडियन एपिग्राफी: ए गाइड टू द स्टडी ऑफ इन्स्क्रिप्सनस इन संस्कृत, प्राकृत एंड द अदर इंडो-आर्यन लैंगुएजेस*, पृष्ठ-९०-९२.न्यू योर्क : १९९८. देखें शेल्डन पोलक. *द लैंगुएज़ ऑफ द गोड्स इन द वर्ल्ड ऑफ द मेन:संस्कृत कल्चर, एंड पॉवर इन प्रिमाडर्न इंडिया* .पृष्ठ- १३०. यूनिवर्सिटी ऑफ कलिफोर्निया प्रेस, लन्दन :२००६

फलस्वरूप वह वंश या तो सूर्य वंशी हो जाता था या चंद्र वंशी या ऐसा ही कोई और वंश. द्विभाषी अभिलेखों में खास तौर पर दानपत्रों आदि में आखिरी हिस्सा जो साधारण लोगों को सीधे संबोधित होता था उसमे स्थानीय भाषाओं का प्रयोग किया जाने लगा था| अभिलेखों आदि में इस प्रकार देशी भाषाओं के साक्ष्य को पोलोक देशी भाषाओं का लेखीकरण(literization) कहते हैं|[1]इस लेखीकरण की शुरुआत स्थानीय राज्य- निर्माण की प्रक्रिया के साथ-साथ ही हुइ थी खास तौर पर ७०० इसवी सन के आस पास|

अभिलेखों की भाषा में होने वाले ये परिवर्तन शासन के बदलते स्वरुप से कुछ न कुछ ताल्लुक रखते हैं| संस्कृत भाषा के साथ केवल ब्राह्मण धर्म के संरक्षण और उसका वरदहस्त प्राप्त करने का मामला ही न था| क्योंकि गुप्त-काल के अनंतर संस्कृत ब्राह्मणीय धर्मों के अलावा बौद्ध- जैन आदि विभिन्न ब्रह्मणेत्तर धर्मों की भाषा भी स्वीकृत हो चुकी थी| ज्ञान के विमर्श की भाषा के रूप में संस्कृत की सार्वत्रिक स्वीकृति और उसका अभिजन-शासकीय कार्यों तथा काव्य की भाषा के रूप में स्वीकृति एक पारदेशीय घटना थी जिसे शेल्डन पोलक 'संस्कृत कॉस्मोपोलिस' का निर्माण कहते हैं| जब प्रारंभ में द्विभाषिक अभिलेखों का मिलना शुरू होता है तब भी उनमें संस्कृत की सांस्कृतिक सार्वत्रिकता का ही बोलबाला था| लेकिन लेखीकरण की प्रक्रिया ने उन देशी भाषाओं को एक ऐसी स्थिति में पहुँचाया जहाँ से वो साहित्यिक भाषाओं के रूप में स्वीकृति पा सकीं| इस तरह नितांत अभिलेखीय या सूचनात्मक कार्यों से साहित्य और काव्य की भाषा तक का सफर तय करने में हर जगह इन भाषाओं को कमोबेश दो से लेकर पांच-छह शताब्दियों का वक्त लग गया| ध्यान देने लायक है कि इसी प्रक्रिया के दौरान भारतीय उपमहाद्वीप में छोटे-छोटे स्थानीय राज्यों ने सत्ता के स्थानीकरण के साथ-साथ विचारधारात्मक और धार्मिक क्षेत्रीयता को भी अंतरावलंबित तरीके से मजबूत किया| फिर चाहे वह तांत्रिक मतों की राजकीय स्वीकृति हो,[2]या इसी तरह से देवी पूजा आदि स्थानीय

---

[1] देखें शेल्डन पोलक. वही, पृष्ठ-४,५,२३-२५, १३२,२८३-८४ २८७,४९९.

[2] इसका एक मनोरंजक और स्पष्ट उदाहरण राजशेखर की कर्पूरमंजरी में योगी भैरवानन्द की केंद्रीय स्थिति है.साथ ही देखें बी. डी. चट्टोपाध्याय. *दि मेकिंग ऑफ अर्ली मेडिएवल इंडिया.* अध्याय 'रिलिजन इन अ रॉयल हाउसहोल्ड', खास कर पृष्ठ-२२८. ओ.यू.पी. ,नई दिल्ली:१९९४.

पूजा-पद्धतियों की स्वीकृति हो जो कि एक पारक्षेत्रीय(translocal) स्वरुप ग्रहण कर रही थी| विभिन्न धार्मिक मतों के सहारे होने वाली इन प्रक्रियाओं की बड़ी समृद्ध व्याख्या हमें द्विवेदी जी की 'मध्यकालीन साधना' नामक पुस्तक में मिलती है| वह 'लोक की ओर झुकना' वाली अपनी अत्यंत महत्वपूर्ण मान्यता दरअसल मध्यकाल की साधना पद्धतियों के अपने इसी विषद् अध्ययन के आधार पर पेश करते हैं| इन विचारधारात्मक परिवर्तनों में लगातार एक पार-क्षेत्रीय मुहावरे को गढ़ने की कोशिश भी थी| स्थानीय दबावों को हमेशा आर्येतर मुहावरों में न भी कहा जाए तो भी "क्षेत्रीय तत्वों ने अपना रूपाकार एक तरफ तो स्थानीय पद्धतियों के समेकन से तैयार किया दूसरी ओर उसने पार-क्षेत्रीय प्रतीकों और मुहावरों को भी ग्रहण किया|"[1] और इन स्थानीय समाजों और संस्कृतियों के प्रभावी होने के दर्ज आंकड़ें भी हमें पर्याप्त मात्रा में मिलने शुरू हो जाते हैं| किसी क्षेत्र की विभिन्न धार्मिक और विचारधारात्मक अभिव्यक्तियाँ इस क्षेत्र की राजनीति, अर्थनीति, और समाज के जटिल संबंधों से गूँथ सी गयीं थीं| उनके अंतर्संबंधों की अभिव्यक्तियों का माध्यम भाषा ही थी| और इसी काल में यह अकारण न था कि क्षेत्रीय भाषाओं के लेखीकरण की प्रक्रिया भी शुरू हुई|[2]क्षेत्रीय समाजों के इस रूपग्रहण की प्रक्रिया अनिवार्यतः इनके भीतर से शुरू हुई थीं| और इसके पीछे क्षेत्रीय स्तर पर काम करने वाले कई महत्वपूर्ण ऐतिहासिक और सामजिक कारक थे| इन कारकों में सबसे प्रभावशाली था " विभिन्न प्रादेशिक स्तरों पर राज्य निर्माण की परिघटना, स्थानीय से क्षेत्रीय और क्षेत्रीय से पारक्षेत्रीय|"[3]इस परिघटना ने क्षेत्रीय भाषाओं के लेखीकरण की जो प्रक्रिया शुरू की उसको साहित्यिक अभिव्यक्ति तक आने में लंबा वक्त लगा था, क्योंकि साहित्य के भीतर पारक्षेत्रीय या सार्वत्रिक साहित्यिक संस्कृति का ही महत्व बना रहा और इसको अभिव्यक्त करने की भाषा के रूप में मुख्यतः संस्कृत और गौणतः प्राकृत और अपभ्रंश के त्रिभाषा विभाग को ही मान्यता प्राप्त रही| ध्यान देने वाली बात यह है कि जहाँ दक्षिण भारत की द्रविड़ भाषाओं ने

---

[1] देखें बी. डी. चट्टोपाध्याय. *दि मेकिंग ऑफ अर्ली मेडिएवल इंडिया*, पृष्ठ-३२. ओ.यू.पी. ,नई दिल्ली:१९९४.

[2] देखें डी.सी. सरकर. *इंडियन एपिग्राफी*, अध्याय-२.मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली: १९९६.

[3] देखें बी. डी. चट्टोपाध्याय. वही, पृष्ठ-३५.

उपरोक्त परिघटना को अपनी अभिव्यक्ति जल्द ही प्रदान कर दिया उत्तरभारत की भाषाओं को ऐसा करने में ज्यादा लंबा वक्त लगा| और यहीं आकर तुर्क सत्ता की प्रतिष्ठा और एक भिन्न सांस्कृतिक वातावरण का महत्त्व उत्तर भारत के देश्यभाषाकरण की प्रक्रिया में मालूम देता है| द्विवेदी जी ने संस्कृतेतर अपभ्रंश भाषा के साहित्यिक प्रयोगों को लक्षित करते हुए इसे ही एक लिहाज से देश्यभाषाकरण मान लिया था| और इसलिए यह अकारण न था कि अपभ्रंश के साहित्य को वह लोक साहित्य ही समझते रहे| क्योंकि भीतर से शुरू हुई स्थानीकरण की परम्परा को वह अपभ्रंश के माध्यम से व्यक्त होता देख रहे थे| यही कारण था कि वह नयी राज्य व्यवस्था और संस्कृति के आगमन के प्रभाव को उत्तर-भारत के खास सन्दर्भ में उतना महत्त्व न दे पाए|

यह एक रोचक बात है कि स्थानीयता के पारक्षेत्रीय चरित्र को अभिव्यक्त करने के लिए संस्कृत की शैली और संस्कृत महाकाव्यों के देश-बोध(epic-space) को जहाँ दक्षिण भारतीय भाषाओं के देश्यभाषाकरण के पहले चरण में (जिसे शेल्डन पोलक cosmopolitan vernacularization कहते हैं) स्थानीय रंग देने की कोशिशें हुईं[1],वहीं उत्तर भारत के देश्यभाषाकरण की प्रक्रिया में यह चरण कहीं भी प्रभावी रूप से दृष्टिगोचर नहीं हुआ| अपभ्रंश महाकाव्यों में धार्मिक और सांप्रदायिक कथानक तो हैं लेकिन संस्कृत महाकाव्यों के स्थानीकरण का सर्वथा अभाव है| पश्चिमी भारत में अपभ्रंश और राज्य का सम्बन्ध जैन धर्म के संरक्षण के साथ साथ स्पष्ट था| और यह संस्कृत के मुहावरों से ज्यादा भिन्न नहीं था|

दूसरी ओर जैसा की अन्यत्र संकेत किया गया है दक्षिण भारतीय भाषाओं के द्रविड़ भाषा परिवार से सम्बंधित होने के कारण और संस्कृत भाषा परिवार से दूर होने के कारण उन्हें वो मौक़ा आसानी से मिल गया जो उत्तर भारत की भाषाओं को नहीं मिला| इस कारण भी शायद मध्यदेश में देशी भाषाओं और उनकी पोलिटी के स्थापित होने में कुछ देर हुई| इस मामले में भी मध्यदेश द्विवेदी जी के शब्दों में ज्यादा रक्षणशील ही रहा| इस रक्षणशीलता और

---

[1] देखें शेल्डन पोलक वही, पृष्ठ- ३८३-३९७.

सार्वत्रिक संस्कृति के मुहावरों तथा उसकी राजनीति को एक बड़ा झटका तुर्क शासन की स्थापना से मिला| इनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि चूँकि संस्कृत या प्राकृत/अपभ्रंश की परम्परा से भिन्न थी इसलिए इस नए माहौल ने 'देश्यभाषाकरण' को बल प्रदान किया| यह बात भी गौरतलब है कि मध्यदेशीय 'देश्यभाषाकरण' ज़्यादातर स्थानीय दरबारों के बाहर ही बाहर विकसित हुआ और बहुत बाद तक उन्हें दरबारों में संरक्षण नहीं मिला| खास तौर पर पूरे भक्ति काल की भावना तो 'संतन को कहाँ सिकरी सो काम' वाली ही रही और एक तरीके से राज्यसत्ता के विरोध में ही समृद्ध हुई| शेल्डन पोलक की मान्यता के विपरीत हिंदी साहित्य की शुरुआत पर धार्मिक कारकों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है| और इस मामले में द्विवेदी जी की धार्मिक प्रेरणा वाली बात ज्यादा सही मालूम पड़ती है| और एक तरह से तथाकथित अशिक्षित 'लितराती' के नए वर्ग ने सूफी और भक्ति आंदोलन के ज़रिये इस साहित्य के आरंभिक काल का निर्माण किया| इस अशिक्षित 'लितराती' ने संस्कृत की 'सांस्कृतिक संस्कृति' का सबसे पुरजोर विरोध किया था|

इस प्रकार हिंदी साहित्य के आरम्भ का प्रश्न एक अत्यंत जटिल प्रक्रिया से जुड़ा है और किसी भी तरह का सामान्यीकरण हमें गलत रास्ते ले जा सकता है| हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मध्यकालीन धर्म-साधनाओं ,नाथों, सिद्धों, तांत्रिकों, कौलमार्गियों तथा स्थानीय पूजा-पद्धतिओं और विभिन्न आर्येतर और वेद विरोधी संप्रदायों के अपने विश्लेषण तथा साथ ही साथ अपभ्रंश साहित्य के विषद् अध्ययन से उत्पन्न अंतर्दृष्टि से उस व्यापक परिवर्तन का पता लगाया था और उसे हिंदी साहित्य के उद्भव के प्रश्न से जोड़ा था जिसे वह लोक की ओर झुकाव कहते है| 'लोक' तथा 'शास्त्र' या दूसरे शब्दों में कहें तो 'स्थानीय' और 'पार-स्थानीय' के अंतर्संबंधों को बखूबी पहचानते हुए उन्होंने हिंदी साहित्य के आरम्भ विषयक विवाद को एक ज़रूरी और सही दिशा प्रदान की थी|

२.२ भाषा और साहित्य का सम्बन्ध: उत्ति विसेसा कब्बो भाषा जा होई सा होदु

नौवीं दसवीं शताब्दी में हुए राजशेखर का प्रसिद्ध नाटक है कर्पूरमंजरी| नाटक में सूत्रधार सवाल करता है कि संस्कृत को छोड़ कर कवि ने प्राकृत में रचना क्यों की?

ता किं किंत्ति संक्किअं परिहरिअ पउदबंधे पउट्टो कई?

और परिपार्श्विक उसका जवाब देते हुए कहता है कि-

अत्थणिबेसा ते ज्जेब्ब सद्दा से ज्जेब्ब परिणमंताबि |

उत्तिविसेसा कब्बो भाषा जा होई सा होदु ||

अर्थात कविता तो उक्ति विशेष होती है चाहे भाषा कोई भी क्यों न हो| तो क्या नौवीं- दसवीं शताब्दी तक काव्य की भाषा के रूप में सारी भाषाएँ समान रूप से स्वीकार्य हो चुकी थीं? हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'भूमिका' में साफ़ तौर पर यह माना है कि दसवीं- ग्यारहवीं शताब्दी तक काव्य –भाषा का बंधन इतना ढ़ीला हो गया था कि कोई भी अपनी भाषा में काव्य रचना कर सकता था| इस मान्यता के पीछे भी यह मान्यता शामिल थी कि अपभ्रंश भाषा लोक भाषा ही थी|[1]चूँकि दसवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक जो भी साहित्य मिलता है उसका अधिकांश अपभ्रंश में ही है इसीलिए यह भी मान लिया गया कि तब तक देशी भाषाएँ दरअसल अपना रूप स्थिर ही नहीं कर पायीं थी और उनका उद्भव हुआ ही नहीं था| अपभ्रंश की केंचुली अभी उतर ही रही थी| इसलिए देशी भाषाओं के स्थानीय भेद से कुछ-कुछ शब्द तो अपभ्रंश ने ग्रहण करने शुरू किये थे लेकिन 'भाषा के विकास की अपभ्रंश अवस्था' अभी समाप्त नहीं हुई थी और वह देशी भाषाओं में परिवर्तित नहीं हुई थी| और इसलिए अपभ्रंश का साहित्य भी लोक भाषा का साहित्य था इसलिए उस दौर का "शायद ही कोई उल्लेखयोग्य संस्कृत भाषा का अलन्कारशास्त्री हो जिसने संस्कृत की कविताओं के साथ-ही-साथ प्राकृत और तत्कालीन

---

[1] हजारी प्रसाद द्विवेदी. *हिंदी साहित्य की भूमिका*, पृष्ठ-३२.राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली:२००६

प्रचलित लोक भाषा की कविताओं का विवेचन न किया हो|"[1]तो क्या काव्य-भाषा की मुक्ति की यह धारणा वास्तव में बन गयी थी?

पिछले परिच्छेद में हमने देखा था कि गुप्त काल के पहले भारतीय उपमहाद्वीप में अभिलेखों की भाषा अधिकांश में प्राकृत ही थी| लंबे समय तक हमें साहित्यिक प्राकृत और संस्कृत के मिले-जुले अंशों वाले अभिलेख मिलते हैं| संस्कृत का प्रभाव पश्चिमोत्तर भारत में सबसे पहले दिखाई पड़ता है| इससे पहले संस्कृत मुख्यतः धार्मिक और पवित्र घेरे की भाषा (language of sacral sphere) थी| इसके विपरीत दरबारी अभिलेखों तथा साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए प्राकृत का इस्तेमाल होता था| सातवाहनों के समय यह परंपरा अपने सबसे अच्छे रूप में हमें दिखाई देती है| लेकिन धीरे-धीरे प्राकृत की जगह संस्कृत ने राजनीति और साहित्य की भाषा के रूप में अपने आप को स्थापित कर लिया| इस प्रक्रिया में वैय्याकरणों और उनके राजनैतिक संरक्षण का बड़ा हाथ था| संस्कृत के सबसे पहले प्रयोग शकों के यहाँ और उससे पहले सिथियो-पार्थियन तथा कुषाण शासकों के यहाँ ही दिखाई पड़ते हैं| ईसा की पहली शताब्दी के पहले चौथाई के शकषोडस् के मथुरा अभिलेख में क्लासिक संस्कृत के शार्दूलविक्रीडित छंद का प्रयोग दिखाई पड़ता है| शक क्षत्रप रूद्रदमन का जूनागढ़ अभिलेख(१५० ईसवी सन्) अलंकृत संस्कृत काव्य शैली का अच्छा उदाहारण पेश करता है|[2]पहले- पहल पश्चिमोत्तर भारत में संस्कृत को संरक्षण विदेशी शासकों के यहाँ ही मिला और फिर धीरे-धीरे इसकी लोकप्रियता देश के अन्य हिस्सों में बढ़ी| अश्वघोष जो संस्कृत में काव्य रचना करने वाले पहले –पहले लेखकों में था,पाटलिपुत्र छोड़ कर कुषाण शासक कनिष्क के दरबार में चला गया था| इसी के साथ विदेशी शासकों के दरबार में संस्कृत को लोकप्रियता असंदिग्ध रूप से वैय्याकरणों के प्रभाव में मिली थी|[3]लेकिन देश के बाकी हिस्सों में यह प्रभाव काफी मंथर गति से पहुंचा और इसमे करीब दो से तीन शताब्दिओं का वक्त लग गया| लेकिन हमें वैय्याकरणों और दरबारों के सम्बन्ध में और उनका संस्कृत के प्रसार में योगदान के स्पष्ट

---

[1] वही

[2] देखें डी.सी. सरकर. *इंडियन एपिग्राफी*, पृष्ठ-४१.मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली: १९९६

[3] वही, पृष्ठ-४१.

प्रमाण मिलते हैं| चाहे वह सातवाहनों के दरबार में सर्ववर्मा की उपस्थिति हो या फिर महाभाष्यकार पातंजलि का पुष्यमित्र शुंग के अश्वमेध यज्ञ में हिस्सा लेने का प्रसंग हो या फिर सर्वतात का अश्वमेध यज्ञ करना हो|[1]

संस्कृत की इस नई सांस्कृतिक व्यवस्था को वेदेतर जैनों और बौद्धों ने भी स्वीकार कर लिया था| सामजिक आधारों की बहुलता ने संस्कृत को राजनैतिक और साहित्यिक विमर्शों के क्षेत्र में एक सार्वदेशिकता प्रदान की| हम यह नहीं कह सकते कि संस्कृत केवल ब्राह्मणीय संस्कारों की भाषा थी और ब्राह्मण धर्म के उत्थान और धर्मग्रंथों की स्वीकार्यता के कारण अभिव्यक्ति के अन्य रूपों पर उसको वरीयता मिली| पहली शताब्दी के अनंतर और खास कर गुप्त काल में काव्य की भाषा के रूप में संस्कृत की क्लासिकी परंपरा स्थापित हो चुकी थी| और शेल्डन पोलक के शब्दों में कहें तो भारतीय परंपरा में 'काव्य' की शुरुआत ही तब हुई जब 'देवों की भाषा ने मनुष्यों की दुनिया में प्रवेश किया'|

काव्य की भाषा के रूप में संस्कृत की स्वीकृति और 'काव्य' का आरंभ एक दूसरे से जुड़ी हुई घटना है| काव्य के आरंभिक रूप की खोज कुछ विद्वान वेदों में भी करते हैं | यह बात सही है कि वेदों में 'कवि' शब्द का एकाधिक बार प्रयोग हुआ है| परन्तु वहाँ कवि शब्द काव्य रचना करने वाले के अर्थ में नहीं है| यास्क ने कवि शब्द का अर्थ करते हुए कहा है कि कवि वह है जो 'अनदेखे को देख सकता है'| कवि कर्त्ता होता है और स्वम्भू होता है| वह इस महान लीला की कल्पना करता है और तत्क्षण खुद को अपनी सर्जना में अभिव्यक्त करता है| वह शुद्ध है और अपनी चेतना से सम्पूर्ण विश्व को आच्छादित किये है| यह कवि ऋषि से भी बढ़ कर होता है | कवि होने के लिए ऋषि होना आवश्यक है लेकिन हर ऋषि कवि नहीं होता| 'कवि' द्रष्टा है और साक्षात् कर्त्ता है उसमे प्रत्यक्ष अंतर्दृष्टि होती है| जबकि ऋषि 'कवि'/'द्रष्टा' से सुने हुए सत्य को जानता है| मंत्र द्रष्टा ऋषि या कवि स्वतः प्रमाण ज्ञान को अनुभूत करते थे| ये कवि संस्कृत काव्यों के रचयिता से नितांत भिन्न हैं| लेकिन ऐसा भी नहीं है कि काव्य का कोई संबंध वैदिक मन्त्रों से नहीं है| काव्य की सबसे पहली कृति के रूप में वैदिक मन्त्रों को देखा ही जा सकता है|

---

[1] वही, पृष्ठ-४२.

लेकिन संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में वैदिक श्रुतियों को काव्य से पृथक् ही देखा गया है| वह शास्त्र और काव्य के विभाजन को स्वीकार करता है| इसलिए उस परम्परा में आदि कवि बाल्मीकि ही हैं, कोई वैदिक ऋषि नहीं| अपनी काव्यमीमांसा में राजशेखर ने काव्यपुरुष की उत्पत्ति और काव्य का जो विस्तृत परिचय दिया है वह काव्यशास्त्र की लंबी परंपरा में स्वीकृत काव्य के अर्थ को स्पष्टतः व्याख्यायित करता है|

अन्य शास्त्रों से अलग काव्यशास्त्र की परंपरा के स्पष्ट प्रमाण हमें सातवीं शताब्दी के भामह से पहले नहीं मिलाते |काव्यालंकार में भामह ने अपने कई पूर्ववर्तियों के संकेत दिए हैं लेकिन दुर्भाग्यवश उनमें से किसी की कृति हमें उपलब्ध नहीं हैं| भरत के 'नाट्यशास्त्र' के पहले की रचनाओं का केवल परम्परा से चला आता अनुमान ही है| बहरहाल भामह और उसके बाद के काव्यशास्त्रियों ने काव्य की परिभाषा, उसकी आत्मा, काव्य की भाषा आदि पर विस्तृत विचार किया है| कई उपलब्ध भाषाओं में कौन सी भाषा काव्य के लिए प्रयुक्त होती थी और प्रयुक्त होनी चाहिए थी इसका उल्लेख लगभग हर काव्यशास्त्री ने किया है| भामह ने काव्य को गद्य या पद्य में और संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश भाषा में होना स्वीकार किया है|[1] एक या दो पीढ़ी बाद के दंडी ने भी अन्य बातों में भामह से असहमति व्यक्त करते हुए भी थोड़े बहुत अंतर से इन्हीं तीन भाषाओं तक काव्य को सीमित रखा है| दंडी ने अपभ्रंश शब्द की थोड़ी व्याख्या की है लेकिन प्राकृत शब्द की व्याख्या नहीं दी है|[2] लेकिन दंडी ने प्राकृत भाषा के क्षेत्रीय भेदों की

---

[1] शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यपद्यं च तद्विधा|
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदापभ्रंश इति त्रिधा ||(काव्यालंकार१.१६)

[2] प्राकृत शब्द की व्याख्या को लेकर विद्वानों में मतभेद है| प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति को विद्वानों का एक वर्ग 'प्रकृत' से मानता है जो उनके लिए संस्कृत ही है|

प्रकृतिः संस्कृतम् | तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम् | (सिद्ध हेमशब्दानुशासन- ८.१.१)
प्रकृतिः संस्कृतम् | तत्र भवं प्राकृतम् उच्यते | (मार्कंडेय कृत प्राकृतसर्वस्व- १.१)
प्रकृतेर आगतं प्राकृतम् | प्रकृतिः संस्कृतम् | (दशरूपक की टीका में धनिक- २.६०)
प्राकृतेः संस्कृताद् आगतं प्राकृतं | (वाग्भटालन्कार २.२ की टीका में सिंहदेवगणिन्)
संस्कृतात् प्राकृतं इष्टं ततोऽपभ्रंश भाषाणम् |(गीतगोविंद ४.२ की नारायण द्वारा रसिकसर्वस्व टीका)

दूसरे वर्ग के विद्वानों का मानना है की प्राकृत संस्कृत से वियुत्पन्न नहीं है और उससे पहले की भाषा है| या उसका संबंध भी किसी मूल भाषा से उसी तरह है जैसा कि संस्कृत का| यह प्राकृत व्याकरण आदि के संस्कार से रहित सहज भाषा है| इस श्रेणी के विद्वानों में ज़्यादातर जैन पंडित हैं|

'सकलजगजन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहित संस्कारः सहजो वचन-व्यापारः प्रकृतिः | तत्र भवं सैव प्राकृतम् |... पाणिन्यादिव्याकरणोदितशब्दलक्षणेन् संस्करणत्संस्कृतमुच्यते|' (रुद्रटकृत काव्यालंकार की नमिसाधु द्वारा की गयी टीका २.१२)

चर्चा की है और महाराष्ट्री प्राकृत को काव्य रचना के लिए सबसे उपयुक्त बताया है (महाराष्ट्राश्रयाम् भाषाम् प्रकृष्टम् प्राकृतं विदुः ;काव्यादर्श-१.३४) तथा नाटकों के पात्रों की बातचीत में शौरसेनी, गौड़ी, लाटी और इसी प्रकार की अन्य भाषाएँ प्रयोग में लायी जा सकती हैं| (काव्यादर्श-१.३५) यहाँ यह लक्षित किया जा सकता है कि महाराष्ट्री के अतिरिक्त शौरसेन, गौड़, लाट या अन्य प्रदेशों की प्राकृत (जिन्हें टीकाकार रत्नश्रीज्ञान 'सामान्यभाषा' कहता है) काव्य में गौण या द्वितीयक महत्व की ही थीं| भोज ने आगे चल कर इसी बात को और भी पुरजोर तरीके से उठाया और कहा कि ये गौण प्रयोग केवल अनुकरणात्मक ही होंगे| किसी नाटक या काव्य में क्षेत्रीयता के निदर्शन के लिए अथवा भिन्न- भिन्न सामाजिक स्तर के पात्रों के लिए इन भाषाओं का प्रयोग निर्देशित किया गया है| हमें महाराष्ट्री प्राकृत को छोड़ कर और किसी भी प्राकृत में पूरी की पूरी रचना नहीं मिलती है| (कर्पूरमंजरी एक अपवाद है जो शौरसेनी प्राकृत में लिखा गया है| लेकिन शौरसेनी आदि प्राकृत का ढांचा महाराष्ट्री प्राकृत का ही था , थोड़े बहुत भेदों के साथ) दंडी ने भामह के काव्य वर्गीकरण में मिश्र काव्य का समावेश करते हुए संस्कृत, विभिन्न प्राकृतों और अपभ्रंश की मिली- जुली भाषा वाले साहित्य को उसमें समाहित कर लिया | इस मिली जुली भाषा में प्राथमिक भाषा संस्कृत या महाराष्ट्री प्राकृत ही हो सकती थी बाकी सारे अनुप्रयोग अनुकरणात्मक ही हो सकते थे| मिश्र काव्य के साथ प्राकृत 'कथा' को भी दंडी ने शामिल कर लिया था| (काव्यादर्श-१.३२,३७)

गुलेरी जी ने 'पुरानी हिंदी' में इस विवाद को यूँ हल किया है-

" मालूम होता है कि प्रकृति शब्द के अर्थ में भ्रम होने से तत आगतं, तदुद्भवा और ततः आदि की कल्पना हुई| प्रकृति का अर्थ यहाँ उपादान कारक नहीं है| जैसे- भाष्यकार ने बहुत सुन्दर उदाहरण दिया हैकि सोने से रुचक बनाता है, रुचक की आकृति को तोड़-मरोड़ कर कटक बनते हैं, कतकोन से फिर खैर की लकड़ी के अंगारे के-से कुंडल बनाए जाते हैं, सोने का सोना रह जाता है, वैसे भाषा से भाषा कभी नहीं गढ़ी गयी| यहाँ प्रकृति शब्द मीमांसा के रूढ़ अर्थ में लिया जाना चाहिए| वहाँ पर प्रकृति और विकृति शब्द विशेष अर्थों में लिए गए हैं| साधारण, नियम नमूना, माडल उत्सर्ग इस अर्थ में प्रकृति आता है, विशेष, अलौकिक, भिन्न, अंतरित अपवाद के अर्थ में विकृति आता है| अग्निष्टोम यज्ञ प्रकृति है, दूसरे सोमयाग उसकी विकृति हैं| इसका यह अर्थ नहीं कि और सोमयाग अग्निष्टोम से निकले हैं या उनसे आये हैं| अग्निष्टोम की जो रीति है उससे दूसरे सोमयागों की रीति बहुत कुछ मिलती और कुछ-कुछ भिन्न है, साधारण रीति प्रकृति में दिखा कर भेदों को विकृति में गिन दिया है| पाणिनि ने भाषा(व्यवहार) की संस्कृत को प्रकृति मन कर वैदिक संस्कृत को उसकी विकृति माना है, साधारण या उत्सर्ग नियम संस्कृत से मान कर वैदिक भाषा को अपवाद बना दिया है वहाँ प्रकृति का उपादान कारण अर्थ मान कर क्या वैदिक भाषा को 'तत आगत' या 'तदुद्भव' कह सकते हैं, उलटी गंगा बहा सकते हैं?"(पुरानी हिंदी, पृष्ठ-८९-९०.)

अपभ्रंश की व्युत्पत्ति बताते हुए दंडी ने लिखा कि काव्य में आभीरादि की भाषा को अपभ्रंश नाम से अभिहित किया जाता है और शास्त्र में संस्कृत से इतर कोई प्रयोग अपभ्रंश कहा जाता है|[1]महाभाष्यकार ने संस्कृत के गौः जैसे शब्दों के लोक में प्रचलित गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अपशब्द या असाधु शब्दों को अपभ्रंश कहा है| नामवर सिंह का मानना है कि दंडी ने शास्त्र में संस्कृत से इतर प्रयोगों को अपभ्रंश कह कर इसी ओर इशारा किया है| यहाँ शास्त्र से दंडी का अभिप्राय व्याकरण शास्त्र से है|[2]लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि काव्यमीमांसा या श्रृंगारप्रकाश आदि में काव्य और शास्त्र का जो भेद किया गया है दंडी ने भी कुछ उसी अर्थ में संभवतः शास्त्र शब्द का प्रयोग किया है| अपभ्रंश का अपभ्रष्ट और हीनतर प्रयोग के अर्थ को 'अमरकोश'(५वीं शताब्दी?)में भी पुष्ट किया गया है|(अपभ्रंशोऽपशब्दः ...१.६.३५४) कोई दो शताब्दी बाद कुमारिल ने भी अपनी 'तन्त्रवर्तिका' में 'अपभ्रष्ट'(?) भाषा में लिखे बौद्धों और जैनों के शास्त्रों को मिथ्या मानते हुए लिखा है कि असत्य भाषा या असाधुभाषा, मगध या दक्षिणात्य भाषा या उनके और भी अपभ्रंश रूपों में लिखा होकर ये ग्रन्थ सत्य को कैसे व्यक्त कर सकते हैं| (तन्त्रवर्तिका-१.३.१२)[3]ध्यातव्य है कि कुमारिलभट्ट ये सब सातवीं शताब्दी में लिख रहे थे और तब तक बौद्धों और जैनियों का विपुल साहित्य संस्कृत भाषा में आ चुका था| इस प्रकार शब्द और भाषा दोनों के सन्दर्भ में दंडी की अपभ्रंश संबंधी व्याख्या बहुत महत्वपूर्ण है| आभीरादि की भाषा ने कैसे साहित्यिक भाषा के रूप में अस्तित्व ग्रहण किया इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण हमारे पास नहीं है| लेकिन यह निश्चित है कि पश्चिम की आभीरोक्ति के साहित्यिक रूप का ज्ञान दक्षिण के दंडी को था| इसलिए अपभ्रंश की देशव्यापी स्वीकृति स्पष्ट है| लेकिन थी यह गौण महत्व वाली ही| परन्तु कालिदास के 'विक्रमोर्वशी' के चतुर्थ अंक में हमें जो अपभ्रंश का नमूना मिलता है, उसको छोड़ कर उस अपभ्रंश का कोई प्रत्यक्ष साक्ष्य हमारे पास नहीं है| [4]विद्वानों ने नाट्यशास्त्र के ३२वें अध्याय में छंदों के उदहारण स्वरुप जो कवितायें

---

[1] आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृता | शास्त्रे तु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम् |(काव्यादर्श- १.३६)

[2] देखें नामवर सिंह. *हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योगदान*, पृष्ठ-२१. लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद:२००२.

[3] साथ ही देखें शेल्डन पोलक, वही, पृष्ठ-५५-५६ और पाद संख्या ३६.

[4] उन छंदों की भाषा को नामवर सिंह ने परिनिष्ठित अपभ्रंश के अत्यंत निकट का कहा है| देखें नामवर सिंह. *हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योगदान*, पृष्ठ-३४-३६. लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद:२००२.

उद्धृत हुई हैं उनमें उस 'आभीरोक्ति' अपभ्रंश की कतिपय विशेषताएं लक्षित ज़रूर की हैं| लेकिन इन सभी जगहों पर यह अपभ्रंश काव्य की मूल भाषा के रूप में नहीं बल्कि उदाहरण स्वरूप आयी अनुकरणात्मक भाषा ही है| अपभ्रंश भाषा को साहित्य के उपयुक्त शुद्ध भाषा का दर्ज़ा प्राप्त करने में १२वीं शताब्दी तक का वक्त लग गया| १२ वीं शताब्दी के वाग्भट् ने अपभ्रंश को विभिन्न क्षेत्रों में बोली जाने वाली शुद्ध भाषा कहा है| (इति भाषास चतस्रोऽपि यान्ति काव्यस्य कायताम्... अपभ्रंशस तु यस शुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्- वाग्भटलान्कार-२.१-३) शुद्धता की यह स्थापना परिपाटीबद्ध और व्याकरण शास्त्र से बंधी भाषा के लिए थी| किसी समय लोक से संबंधित अपभ्रंश की पार-क्षेत्रीय स्वीकृति बिना संस्कृत या प्राकृत के मुहावरों को अपनाये नहीं हो सकती थी| इसके कुछ क्षेत्रीय भेद तो थे लेकिन काव्य-भाषा के रूप में वह स्वीकृति त्रिभाषा फॉर्मूले के अंदर ही थी| इतना तो तय है कि अपभ्रंश लोक भाषा न थी|

इन तीन भाषाओं के अतिरिक्त कहीं-कहीं बड्डुकथा(वृहत्कथा) की भाषा पैशाची का भी उल्लेख मिलता है| इसे 'भूतभाषा' भी कहा जाता था और विद्वानों ने इस भाषा को प्राकृत का ही एक भेद स्वीकार किया है| यह किस क्षेत्र से सम्बंधित थी इसको लेकर भी विवाद है| इस भाषा में रचित किसी ग्रन्थ का अभी तक पता नहीं चला है|

भामह और दंडी से कोई तीन शताब्दी पूर्व भरत के नाट्यशास्त्र में भी तीन भाषाओं का उल्लेख मिलता है| संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की जगह देशभाषा| भरत ने प्राकृत पाठ का लक्षण बताते हुए लिखा कि जब संस्कृत पाठ ही विपर्यस्त यानी संस्कारगुण से रहित हो जाता है तो प्राकृत कहलाता है, जिसकी अनेक और भिन्न- भिन्न अवस्थाएं होतीं हैं|[1] विशेषतः नाट्य प्रयोग में वह तीन प्रकार की होती हैं- १.समान शब्द(संस्कृत के समान) २.विभ्रष्ट (इस वर्ग की प्राकृत में वे पद गिने जाते हैं जिनके वर्ण संधि में बदल जाते हैं और संख्या में भी कम पड़ जाते हैं) और ३. देशी|[2] यहाँ विभ्रष्ट शब्द को ही नामवर सिंह अपभ्रंश मानते हैं|[1] लेकिन भरत ने

---

[1] एतदेव विपर्यस्त संस्कारागुणवर्जितम् |
विज्ञेयम् प्रकृतं पाठ्यम् नानावस्थान्तरात्मकम् ||(१७.२)

[2] त्रिविधं तच्च विज्ञेयम् नाट्ययोगे समासतः |

देशी भाषाओं की चर्चा के क्रम में ही एक चौथी भाषा का ज़िक्र भी किया है जिसे वह 'विभाषा' कहते हैं| सहकार, आभीर, चंडाल, द्रमिल, आन्ध्र और हीन वनेचरों में इसका प्रयोग होता है| [2] जिस उकारबहुला आभीर भाषा से अपभ्रंश का सम्बन्ध जोड़ा जाता है वह इसी विभाषा वर्ग की भाषा है| (१७.५५,१७.६६) यहाँ भी ध्यान देने लायक है कि बोलियों के इन सभी प्रवर्गों का इस्तेमाल नाटकों में नितांत अनुकरणात्मक प्रयोगों तक ही सीमित किया गया है| पात्रों के सामाजिक स्तर या स्थान भेद के अनुसार इन का प्रयोग नाटक में करना चाहिए, ऐसा भरत का स्पष्ट निर्देश है| इनमें से किसी को भी नाट्य रचना की प्राथमिक भाषा होने का गौरव नहीं है|

काव्य भाषा या साहित्यिक भाषा के रूप में तीन भाषाओं के सीमित प्रयोग को सिद्धांतकारों ने लगातार और बहुत बाद तक निरुपित किया है| कहीं कहीं हमें षड्भाषा का भी उल्लेख मिलता है| नौवीं शताब्दी के आस-पास रुद्रट ने छः भाषाओं का उल्लेख किया है| यहाँ केवल यह किया गया है कि प्राकृत को महाराष्ट्री प्राकृत से अभिन्न मानते हुए शौरसेनी और मागधी को पृथक लक्षणों वाली भाषा के रूप में गिना गया है और उन्हें संस्कृत,प्राकृत, अपभ्रंश और पैशाची के साथ रखा गया है|[3] अतः षड्भाषा का यह उल्लेख तीन भाषाओं के पुराने नियम में कोई बदलाव नहीं लाता| अगर छः भाषाओं को मान भी लिया जाए तो भी यह काव्य में भाषाओं का सीमित प्रयोग ही है| इसी सीमित भाषा-प्रयोग का निर्देश एक शताब्दी बाद के राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में भी दिया है| काव्यमीमांसा में जिस काव्यपुरुष की चर्चा है उसका मुख संस्कृत का है, बाहू प्राकृत का(महाराष्ट्री प्राकृत?) जंघाएँ अपभ्रंश की , पद पैशाची का और उसकी छाती मिश्र भाषा (नाटकों में प्रयुक्त विभिन्न प्राकृत आदि) की है| (काव्यमीमांसा-४८.२५-२६) आगे वह कहता है कि कोई विषय संस्कृत में सबसे अच्छी तरह कहा जा सकता है कोई प्राकृत में तो कोई अपभ्रंश या पैशाची में : कोई-कोई दो या तीन या

समानशब्दम् विभ्रष्टम् देशीगतमथापि वा ॥ (१७.३)

[1] "भरत मुनि ने समान शब्द के अतिरिक्त जिस विभ्रष्ट शब्द का प्रयोग किया है वह यही अपभ्रंश है|" *हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योगदान*, पृष्ठ-२१.

[2] शकाराभीरचण्डालशबरद्रमिलान्ध्रजाः |
हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृताः ॥(१७.४४)

[3] प्राकृत-संस्कृत-मागध-पिशाचभाषाश्च सूरसेनी च |
षष्टोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रम्शः ॥ (साथ ही देखें रूद्रटकृत काव्यालंकार ,२.१ नमिसाधुकृत टीका.)

चारों भाषाओं में| जिस लेखक की तीव्र बुद्धि इनमें विभेद करती है उसकी प्रसिद्धि सारे जगत में व्याप्त होती है|

इसलिए कर्पूरमंजरी का 'भाषा जा होई सा होदु' वाला कथन सीमित भाषा प्रयोगों के बीच चुनाव को ही बताता है| किसी भी उपलब्ध भाषा के प्रयोग को नहीं| राजशेखर के एक शताब्दी बाद के भोज ने अपने 'श्रृंगारप्रकाश' में इसी मान्यता का समर्थन किया है| तमिल प्रदेश के शारदातनय ने १२ वीं शताब्दी के अपने 'भावप्रकाश' में भी इस संस्कृत(प्राकृत/अपभ्रंश) की साहित्यिक संस्कृति को अपना पूरा समर्थन दिया है| [1]इतना तो तय है की बहिष्कृत भाषाओं में स्वतः ही कोई ऐसा दोष न था कि उसमे काव्य रचना हो ही नहीं सकती थी| लेकिन संस्कृत(प्राकृत/अपभ्रंश) की जो सार्वत्रिक संस्कृति बन गयी थी उसमे ये भाषाएँ बहिष्कृत होने को बाध्य थीं|

इस साहित्यिक रूढ़ि का पालन कवियों ने भी बखूबी किया था और यह केवल काव्यशास्त्रियों तक ही सीमित नहीं थी|७७९ इसवी में रचित उद्योतन सूरि की 'कुवलयमाला' में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश को ही काव्य भाषा के रूप में स्वीकार किया गया है|[2]यहाँ उद्योतन सूरि महाराष्ट्री प्राकृत के अलावा अन्य दो भाषाओं का प्रयोग वहीं करता है जहां 'कोऊहलेण' या कुतूहलवश स्थानीय संवादों को व्यक्त करना होता है| उसने विभिन्न स्थानीय भाषाओं और बोलियों के वास्तविक उदाहरण देकर यह तो ज़रूर दिखा दिया कि साहित्य में प्रयुक्त होने की संभावना से युक्त अन्य भाषाएँ भी वर्त्तमान थीं| विजयपुर(बीजापुर?) के बाजार में कथानायक ने लोगों को सोलह विभिन्न देश भाषाओं का प्रयोग करते सुना| इनमे से प्रत्येक संवाद का नमूना सूरि ने अपने ग्रन्थ में दिया है| हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लक्ष्य किया है कि इनमें से कई प्रयोग बाद में हेमचंद्र की 'देशीनाममाला' और 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' में भी मिलते हैं| मथुरा के अनाथालय में कोढ़ियों और अपाहिजों की भाषा में मिलने वाले 'अच्छइ' ,'आछ' जैसे

---

[1] देखें शेल्डन पोलक. वही, पृष्ठ-९५.

[2] अपने ग्रन्थ के शुरू में ही वह कहता है-पाइयभाषारइया मरहट्ठयदेसीवण्णयणिबद्धा| सुद्धा सयलकह च्चिय तावसजिणसत्थवाहिल्ला || कोऊहलेण कत्थइ परवयणवसेण सक्कयणिबद्धा | किंचि अवब्भंसकया दावियपेसायभासिल्ला ||(कुवलयमाला-१२-१३)

प्रयोग बारहवीं शताब्दी की भाषा में मिल जाते हैं| [1]इस प्रकार यह तय है कि ८ वीं शताब्दी में भी देशीभाषाओं का चलन था और अपभ्रंश की परवर्ती अवस्था से उनके उद्भव की व्याख्या का प्रयास गलत है| साथ ही यह भी तय है कि साहित्यिक भाषा के रूप में उन देशी भाषाओं का प्रयोग अपभ्रंश (संस्कृत/प्राकृत) की सार्वत्रिक संस्कृति के पतन के साथ ही हो सका| कुवलयमाला में मिलने वाले ये प्रयोग भी नक़ल या अनुकरण ही हैं , साहित्य में द्वितीयक महत्व ही रखते हैं| खुद साहित्य के लिए इन भाषाओं का प्रयोग नहीं हो सकता था| साहित्य की प्राथमिक भाषा निश्चित रूप से तीन भाषा प्रयोगों तक ही सीमित था|

इस लिहाज से पैशाची वृहद्कथा(बड्डुकथा) के उद्भव की कहानी बड़ी मनोरंजक और अर्थ पूर्ण है| एक बार सातवाहन राजा(द्विवेदी जी इसे हाल से अभिन्न मानते हैं[2]) जलक्रीड़ा के समय संस्कृत न बोल पाने के कारण लज्जित हुए और प्रतिज्ञा कर बैठे कि जब तक धारावाहिक रूप से संस्कृत बोलने और लिखने नहीं लगेंगे तब तक बाहर मुँह न दिखाएँगे | मंत्री गुणाढ्य पंडित को बुलाया गया |उन्होंने छह वर्ष में राजा को संस्कृत सिखा देने की प्रतिज्ञा की| लेकिन एक दूसरे पंडित सर्ववर्मा ने इस दुष्कर कार्य को छह महीने में ही पूरा करने का व्रत ले लिया| गुणाढ्य पंडित ने दावा किया कि यह असंभव है| सर्ववर्मा ने इस कठिन कार्य को शिव के पुत्र कार्तिकेय की दया पर छोड़ दिया |कार्त्तिकेय के आशीर्वाद से उसने 'कातन्त्र' जिसे कुमार्व्याकरण भी कहा जाता है, की रचना कर डाली | इस प्रकार वह अपने कार्य में सफल रहा और छः महीने बाद राजा धारा प्रवाह संस्कृत बोलने लगे, पर गुणाढ्य पंडित को अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार भाषात्रयी में मौन हो जाना पड़ा| संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश को छोड़ कर पैशाची में उन्हें रचना करना पड़ा |(भाषात्रये भविष्यामि मौनी... पैशाचिम् अनअपभ्रंशसंस्कृतप्राकृतां शृतः) 'कागज़ का काम सूखे चमड़े से लिया गया और स्याही का काम पशुओं के रक्त से | पिशाचों की बस्ती में और मिल भी क्या सकता था! कथा जब पूरी हुई तो गुणाढ्य पंडित शिष्यों सहित फिर राजधानी लौट आये | स्वयं तो नगर के उपकंठ में ही रुक गए, पर शिष्यों के हाथ ग्रन्थ को राजा के पास भिजवा दिया| राजा ने सब जान सुन कर कहा-

---

[1] देखें हजारी प्रसाद द्विवेदी. *हिंदी साहित्य का आदिकाल*, पृष्ठ- २१.बिहार- राष्ट्रभाषा- परिषद्, पटना: १९८०.
[2] वही, पृष्ठ-६०

पिशाची वाग मषी रक्तं मौनोन्मत्तश्च लेखकः |

इति राजा ब्रवीत का वा वस्तुसारविचारणा || (वृहत्कथामंजरी १/८७)'

कहानी में त्रिभाषा प्रयोग में मौन होना और फिर राजा द्वारा पैशाची की रचना को वस्तुसार से रहित मानना साहित्यिक भाषा के सीमित प्रयोगों की स्वीकृति का एक और प्रमाण है| आगे चल कर 'संदेश रासक' में अब्दुर्रहमान का खुद को 'संस्कृत, प्राकृत, पैशाची' की परम्परा से जोड़ना भाषा-विषयक पुराने रूढ़िबद्ध संस्कारों और संस्कृत(प्राकृत/अपभ्रंश) की सार्वत्रिक संस्कृति का ही प्रभाव मानना चाहिए|(सन्देश रासक १.४-६)

भाषा के साथ साथ इनमें लिखे जाने वाले साहित्य के रूप और विधाएं भी बहुत हद तक रूढ़ हो गयीं थीं| विशिष्ट प्रकार के काव्य के लिए विशिष्ट प्रकार की भाषा ही स्वीकार थी| महाकाव्य और आख्यायिका केवल संस्कृत में ही लिखे जाते थे| स्कंधक और गाहा के लिए प्राकृत रूढ़ हो गयी थी| रासो/रासक या अवस्कंधक अपभ्रंश में ही लिखे गए| 'गाहाबंध' कहने से जहां प्राकृत का बोध होता था ,दूहा/दोहा कहने से ही अपभ्रंश का भान होने लगा था| आगे चल कर यह परंपरा देशी भाषाओं में भी मान्य हो गयी थी| कृष्णकाव्य और श्रृंगार मुक्तकों के लिए ब्रज तथा राम-काव्य और चरित काव्यों के लिए अवधी भाषा के प्रयोग की लंबी परम्परा रही है| इनके अपवाद भी हैं लेकिन एक सामान्य नियम की तरह कवियों ने इनका ज़्यादातर पालन ही किया था|

अतः 'भाषा जा होई सा होदु' को सिद्धांत कथन मान कर अपभ्रंश साहित्य की भाषा को लोकभाषा मानना और फिर उसकी लोक-परक व्याख्या करना पूरी तरह सही नहीं प्रतीत होता|

२.३ एक बड़े आलोक की संभावना: देशीभाषा-साहित्य के आरंभिक रूपों की खोज.

'हिंदी साहित्य का आदिकाल' के अपने पहले व्याख्यान में द्विवेदी जी ने तत्कालीन उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य की चर्चा की है| उन्होंने बताया है कि पिशेल का यह अनुमान कि अपभ्रंश का विपुल साहित्य खो गया है ,को उत्साही अनुसंधानकर्ताओं ने अपने अथक प्रयासों से गलत साबित कर दिया है और विवेच्यकाल के कई अपभ्रंश ग्रन्थ अब हमारे सामने हैं| लेकिन "चौदहवीं शताब्दी से पहले की भाषा का रूप हिंदी-भाषी प्रदेशों में क्या और कैसा था, इसका निर्णय करने योग्य साहित्य"(पृष्ठ-२४) उपलब्ध नहीं है| पुराने हस्तलेखों और शिला लेखों से उस भाषा का पता चल सकता था पर दुर्भाग्यवश वह भी नहीं है| एक बार जब हिंदी साहित्य के आदिकाल का निर्धारण दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक कर लिया गया तो फिर यह आवश्यक था कि उस काल की साहित्यिक प्रवृत्ति और उस काल की मुख्य प्रेरणादायक वस्तु को भी स्पष्ट किया जाए| हमने पिछले परिच्छेदों में देखा है कि हिंदी साहित्य का आरंभिक उपलब्ध साहित्य इतिहास की उस बड़ी घटना की ओर इशारा करता है जिसे 'देश्यभाषाकरण' कहते हैं| और यह प्रक्रिया ही हिंदी के आरंभिक उपलब्ध साहित्य की उपलब्धता सुनिश्चित करती है| या ऐसा कहें कि देशी भाषाओं में साहित्य की उपलब्धता ही देश्यभाषाकरण की प्रक्रिया को सूचित करती है| इसके बावजूद हम उस दौर के पहले के हिंदी साहित्य की विषय-वस्तु और उसके काव्य रूप की खोज करते हैं क्योंकि यह आने वाले वक्त के साहित्य की परम्परा को समझने में हमारी मदद करता है| भक्ति-साहित्य की रूढ़ि मुक्त चेतना ने गुणात्मक रूप से भिन्न साहित्य हमारे सामने रखा |इस भिन्न साहित्य ने अपनी पूर्ववर्ती परम्पराओं में से किसका चयन किया और क्यों किया यह जानने के लिए भी विवेच्य काल के साहित्यिक रूपों की खोज आवश्यक है| परन्तु परम्परा निर्धारण के लिए दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक लगभग अनुपलब्ध हिंदी साहित्य के काव्य रूपों का निर्धारण इतिहास की एक बड़ी समस्या थी| शुक्ल जी ने अपने तरीके से उसे हल भी कर दिया था| लेकिन भक्ति-काव्य का स्वरूप वीरगाथाओं से तय नहीं हो सकता था और न ही किसी 'प्रतिक्रियावाद' से| इस समस्या को एक सही इतिहास-दृष्टि से हल करने की कोशिश की हजारी प्रसाद द्विवेदी ने| द्विवेदी जी ने अपभ्रंश के उपलब्ध साहित्य के

अध्ययन और ऐतिहासिक परिवर्तन की मूल प्रक्रिया और दिशा की पहचान के सहारे स्वरूप निर्धारण की इस महती आवश्यकता को पूरा करने की कोशिश की है| द्विवेदी जी के ही शब्दों में-

> "यद्यपि हमने अपभ्रंश की अनेक रचनाओं की चर्चा की है और हमारा मत है कि ये रचनाएँ आदिकालीन हिंदी-साहित्य के काव्यरूपों के अनुमान में सहायक हैं; परन्तु यह सत्य है कि जिन प्रदेशों में आगे चल कर ब्रजभाषा, अवधी, और खड़ी बोली का साहित्य लिखा जाने लगा, उन प्रदेशों की बहुत ही थोड़ी रचनाएँ हमें मिलती हैं –बहुत ही थोड़ी | फिर भी मात्रा और विस्तार में अत्यंत अल्प इन रचनाओं का भी बहुत महत्व है, इन थोड़ी रचनाओं ने भी विद्वानों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है और अनेक विद्वानों ने इसके मूल रूप को समझने का प्रयास भी किया है| यह साहित्य अपभ्रंश कवि द्वारा निबद्ध उस अकिंचना सुन्दरी के समान है, जिसके सिर पर एक फटी-पुरानी कमली थी, गले में दस-बीस गुरियों की माला थी, फिर भी उसका सौंदर्य ऐसा मनोहर था कि गोष्ठ के रसिकों को कितनी ही बार उठा-बैठी करने को बाध्य होना पड़ा –
>
> सिरि जरखंडी लोअड़ी गलि मणि अड़ा न बीस |
>
> तोवि गोट्ठड़ा करावािआ मुद्धए उटठबईस ||"[1]

दूसरे व्याख्यान में द्विवेदी जी उन कारणों की पड़ताल करते हैं जिनके कारण विवेच्य काल में देशी-भाषा के साहित्य के सम्बन्ध में कोई विशेष सूचना नहीं मिलती| " इस बात का निर्णय करना कठिन है कि अवधी और ब्रजभाषा क्षेत्र में उत्पन्न और वहीं की भाषा बोलने वालों ने किस प्रकार के साहित्य की रचना की थी, जिसका परवर्ती विकास अवधी और ब्रजभाषा के साहित्यिक ग्रन्थ हैं, क्योंकि दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के भीतर इन क्षेत्रों में कोई रचना हुई भी हो तो उसका प्रामाणिक रूप हमें प्राप्त नहीं|"(पृष्ठ-२६)इसलिए वह अपने इतिहास के लिए

---

[1] हजारी प्रसाद द्विवेदी. *हिंदी साहित्य का आदिकाल*, पृष्ठ- २४-२५.बिहार- राष्ट्रभाषा- परिषद्, पटना: १९८०

मध्य देश के पार्श्ववर्ती प्रदेशों से प्राप्त साहित्यिक ग्रंथों तथा पूर्ववर्ती और परवर्ती रचनाओं के काव्यरूपों का अध्ययन कर हिंदी के आदिकाल के काव्यरूपों का अंदाजा लगाने की कोशिश करते हैं|और इस प्रकार आदिकालीन हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन के लिए एक प्राविधि की तलाश उनके अनुमान की पद्धतियों और निष्कर्षों के बीच से ही तय होती है| उन्होंने इस कारण भी विवेच्य काल के अध्ययन के लिए तमाम श्रेणी की रचनाओं की उपयोगिता पर बल दिया| और शुक्ल जी के इतिहास को लक्ष्य करते हुए कहा कि " केवल संयोगवश इधर-उधर से उपलब्ध प्रमाणों के बल पर किसी बात को अमुक का प्रभाव और किसी को अमुक ऐतिहासिक घटना की प्रतिक्रया कह कर व्याख्या कर देना न बहुत उचित है न बहुत हितकर|"(पृष्ठ-२६)

इसी प्रकार उस काल के महात्माओं और कवियों के नाम से प्रक्षिप्त और प्रचलित रचनाओं तथा किंवदंतियों के धैर्यपूर्वक परीक्षण की बात भी कही| साहित्यिक इतिहास में प्रामाणिकता का महत्व तो है ही साथ-साथ प्रक्षिप्तों के इतिहास और उनके ऐतिहासिक कारणों की पड़ताल भी उतनी ही ज़रूरी है| जिन कवियों की रचनाओं को जनता की व्यापक लोकप्रियता मिलती है उनमें जनता के चित्त का विशेष प्रतिबिम्बन होता है| फलतः जन सामान्य उन रचनाओं में अपने विशेष सन्दर्भ ढूँढता जाता है और अपनी आकांक्षाओं को जोड़ता भी जाता है| समय-समय पर होने वाले ये परिवर्तन बड़े गूढ़ ऐतिहासिक सत्यों की पहचान छुपाये रहते हैं| इन पहचानों में उस काल-विशेष की छाप होती है| उन्हें पढ़ने की कोशिश इतिहास लेखन की अनिवार्य शर्त है| द्विवेदी जी ने इतिहास लेखन में प्रामाणिकता की समस्या को एक वृहत्तर अर्थ देकर इतिहास की छूटी हुई और भूली हुई कड़ियों को जोड़ने और उन्हें पुनर्रचित करने का प्रयास किया| और इस पुनर्रचना के केंद्र में थी किसी काल के 'सम्पूर्ण मनुष्य' को उद्भासित करने की चाह| इसने इतिहासलेखन के उद्देश्य को एक नया आधार दिया| परम्परा के पाठ को नयी दृष्टि दी|

> "न तो हमें परम्परा से प्रचलित बातों को सहज ही अस्वीकार कर देना चाहिए और न उनकी परीक्षा किये बिना उन्हें ग्रहण ही कर लेना चाहिए| इस अंधकार युग को प्रकाशित करने योग्य जो भी चिंगारी मिल जाये, उसे सावधानी से जिलाए रखना

कर्त्तव्य है; क्योंकि वह बहुत बड़े आलोक की संभावना लेकर आई होती है, उसके पेट में केवल उस युग के रसिक हृदय की धड़कन का ही नहीं; केवल सुशिक्षित चित्त के संयत और सुचिंतित वाक्पाटव का ही नहीं ,बल्कि उस युग के संपूर्ण मनुष्य को उद्भासित करने की क्षमता छिपी होती है|... साहित्य की दृष्टि से, भाषा की दृष्टि से या सामाजिक गति की दृष्टि से उसमें किसी न किसी महत्वपूर्ण तथ्य के मिल जाने की संभावना होती है|"[1]

इस काल की पुस्तकें मुख्यतः तीन प्रकार से रक्षित हुई हैं| १) राजाश्रय पाकर और राजकीय पुस्तकालयों में सुरक्षित रहकर |२) सुसंगठित धर्म सम्प्रदाय का आश्रय पाकर और मठों, विहारों, आदि के पुस्तकालयों में शरण पा कर|३) जनता का प्रेम और प्रोत्साहन पाकर| द्विवेदी जी ने स्पष्ट किया है की इन तीनों में जो सबसे प्रबल साधन था वह राजाश्रय ही था| इस प्रकार उन्होंने राज्याश्रय और साहित्यिक संस्कृति के मजबूत रिश्तों को समझ लिया था| भारतीय सन्दर्भ में हमने जो संस्कृत की सार्वत्रिक संस्कृत और उसके साथ राज्य के अंतर्संबंधों की चर्चा पहले की है उसकी पहचान द्विवेदी जी को थी| आगे उन्होंने राज्याश्रय के चरित्र की चर्चा करते वक्त ध्यान दिलाया है कि 'देशीभाषाओं' को जैसा संरक्षण पश्चिम भारत में मिला वह मध्यदेश में नहीं मिला| इसलिए भी जैसा कि हम पहले कह आये हैं यहाँ देशीभाषाओं की रचनाएँ सामने नहीं आतीं और हमें देश्यभाषाकरण के पहले चरण का अभाव मिलता है| दरअसल मामला सिर्फ संरक्षित हो पाने का नहीं है| बल्कि देशीभाषाओं में साहित्य के न लिखे जाने का भी था| काव्य-भाषा की जो संस्कृति त्रिभाषा(या षड्भाषा) को स्वीकार करती आयी थी उसकी 'पोलिटी' में जो आधारभूत परिवर्तन क्षेत्रीय राज्यों के निर्माण के साथ-साथ अन्यत्र हुआ ,मध्यदेश में वह नहीं हो पाया| द्विवेदी जी ने लिखा कि उस काल की जो पुस्तकें हिंदू धर्म और हिंदू नरेशों के संरक्षण से बची हैं, वे अधिकांश संस्कृत में हैं|[2]संस्कृत में हैं क्योंकि संस्कृत की सार्वत्रिक संस्कृति को उनसे किसी विरोध का सामना नहीं करना पड़ा| जबकि दक्षिण भारत में

---

[1] वही, पृष्ठ-२७.

[2] वही, पृष्ठ-२७.

उस काल में ही देश्यभाषा की एक विरोधी पोलिटी का निर्माण हुआ , भले ही उसका पहला चरण संस्कृत की सार्वत्रिक संस्कृति के मुहावरों को ही अपनाकर विकसित हुआ हो|

संस्कृति और राजनीति के इस सम्बन्ध को द्विवेदी जी गहड़वार राज्य में इस प्रकार दिखाते हैं-

> "गहड़वार-राजाओं के विषय में कई प्रकार के विश्वास विद्वानों में प्रचलित हैं| कुछ लोग उन्हें दक्षिण से आया बताते हैं और कुछ लोग पश्चिम से| इतना प्रायः निश्चित है कि ये लोग बाहर से आये थे और बाहर से आने वाले अन्य लोगों की भाँति वे भी स्थानीय जनता से अपने को भिन्न समझते रहे और अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयास करते रहे|बहुत दिन तक इस दरबार में देशी भाषा के साहित्य को कोई प्रश्रय नहीं मिला| वे लोग वैदिक संस्कृति के उपासक थे और बाहर से बुला बुला कर अनेक ब्राह्मण-वंशों को दान देकर काशी में बसा रहे थे| संस्कृत को इन्होंने बहुत प्रोत्साहन दिया| जिस प्रकार गौड़ देश के पाल, गुजरात के सोलंकी, और मालवा के परमार देशभाषा को प्रोत्साहन दे रहे थे, वैसा इस दरबार में नहीं हुआ| इस उपेक्षा का एक कारण तो यही जान पड़ता है कि ये लोग बाहर से आये हुए थे और देशीय जनता के साथ दीर्घकाल तक एक नहीं हो पाए थे| दूसरा कारण यह हो सकता है कि मध्यदेश में जिस संरक्षणशील धार्मिक विचारधारा की प्रतिष्ठा थी, उसमें संस्कृतभाषा और वर्जनशील ब्राह्मण व्यवस्था से अधिकाधिक चिपटे रहना स्थानीय जनता की दृष्टि में ऊँचा उठने का साधन था"[1]

संस्कृत भाषा और ब्राह्मण धर्म के सीधे रिश्तों की भारतीय साहित्य में निर्मिति एक विशेष इतिहास दृष्टि ने की थी और यह दृष्टि औपनिवेशिक शासकों और प्राच्यविदों के द्वारा बनाई गयी थी|[2]थोड़े समय के लिए यह मान भी लिया जाए कि गहरवाड़ों ने ब्राह्मण धर्म से अपने

---

[1] वही, पृष्ठ-२९.

[2] देखें निकोलस डर्क्स. *कास्ट्स ऑफ माइंड: कोलोनियालिज्म एंड द मेकिंग ऑफ मॉडर्न इंडिया*, 'इंट्रोडक्सन' और 'द टेक्स्चुअलाइजेसन ऑफ ट्रेडीसन: बायोग्राफी ऑफ एन आर्काईव'. परमानेंट ब्लैक, दिल्ली: २०१०. और साथ ही शेल्डन पोलक, (वही. पृष्ठ-२८-२९.) *"The presumed concomitance between Sanskrit and Brahmanism on the one hand and vernacularity and non-Brahmanism on the other does not hold for much of the period under discussion. The vision of Sanskrit as a sacred language "jealously preserved by Brahmans in their*

आप को जोड़ कर संस्कृत को प्रोत्साहित किया और इसी कारण देशभाषा को प्रोत्साहित नहीं किया| तो ऐसा क्यूँ है कि ठीक उसी वक्त दक्षिण भारतीय राज्यों ने ब्राह्मणों को बड़े-बड़े अग्रहार भी दिए और राजकीय संरक्षण भी दिया और फिर भी देश्यभाषाओं को प्रोत्साहित किया? अगर ब्राह्मणों के साथ संस्कृत का रिश्ता ऐसा ही था तो मालवा के परमार राजपूतों ने या ग्वालियर के राज्य ने देशी भाषाओं को प्रोत्साहित क्यों किया? राजपूतों के साथ ब्राह्मणों के गठजोड़ को तो कई इतिहासकारों ने स्पष्ट दिखाया है| फिर सोलंकिओं ने ब्राह्मणों के खिलाफ जाकर देशी भाषाओं को संरक्षण क्यों दिया? इससे पता चलता है कि ब्राह्मणों और संस्कृत भाषा का विवेच्य काल में कोई अनिवार्य रिश्ता नहीं था| ध्यान देने लायक है कि एक तरफ तो ब्राह्मणों के संरक्षण के कारण देश भाषाओं को दबाया जाना साबित किया जाता है दूसरी ओर अपभ्रंश में संस्कृत शब्दों की प्रमुखता या 'तत्समीकरण' की प्रक्रिया को ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान से जोड़ कर देशी भाषाओं के विकास के सबसे प्रमुख अभिलक्षण की व्याख्या भी की जाती है! अतः हमें 'देश्यभाषाकरण' की इस धार्मिक व्याख्या से बाहर निकलना होगा|

द्विवेदीजी चूँकि कई बार देशी भाषाओं से अपभ्रंश का निर्देश करते हैं इसलिए गहड़वारों के उपरोक्त उदहारण में देशभाषा का मतलब अपभ्रंश से भी है| द्विवेदी जी ने गहड़वार-राजा गोविन्दचंद्र के समय से इस वंश का झुकाव देशी भाषाओं की ओर होना स्वीकार किया है| इन्हीं गोविन्दचंद्र के सभापंडित दामोदरभट्ट ने राजकुमारों को काशी-कान्यकुब्ज की भाषा सिखाने के उद्देश्य से 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' की रचना की थी| इससे यह अनुमान किया जाता है कि राजकुमारों को घर के भीतर किसी और भाषा बोलने का अभ्यास था| इससे गहड़वारों का कहीं बाहर से आना सिद्ध होता है| परन्तु 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' में देश भाषा की शिक्षा देना एक बात है और साहित्य के लिए देशी भाषाओं को प्रोत्साहित करना और संरक्षण देना दूसरी बात| राजकुमारों के घर की भाषा चाहे जो भी हो उन्हें देशी भाषाओं की

---

schools" may not be the pure illusion of the colonial officer who gave it expression, yet it is undoubtedly something that developed late in the history of language , when ,for reasons very likely having to do with vernacularization itself, language options shrank for many communities and Brahmanical society reasserted its archaic monopolization over the language(the Catholic Church's eventual monopolization of Latin is an instructive parallel both historically and structurally). In most cases, vernacular beginnings occurred independently of religious stimuli strictly construed, and the greater portion of literature thereby created was produced not at the monastery but at the court."

शिक्षा संस्कृत के माध्यम से ही दी जा रही थी| यह केवल राज काज के कार्यों में सहायता के लिए औपचारिक शिक्षा थी| वरना राजकुमारों के घर की भाषा में ही साहित्य कहाँ लिखा जा रहा था! उनके घर की भाषा भी वैसे ही काव्य के क्षेत्र से बहिष्कृत थी जैसे कान्यकुब्ज की देशी भाषा|

उसी कान्यकुब्ज के दरबार में विद्याधर एक मंत्री थे| द्विवेदी जी ने इसे 'प्राकृतपैङ्लम्' के विद्याधर से अभिन्न माना है| इनकी कुछ रचनाएँ 'प्राकृतपैङ्लम्' में मिल जाती हैं-"जो यह बताती है कि जयचंद्र के दरबार में विद्वान मंत्रिगण भी देश भाषा में रचना करते थे|"(वही पृष्ठ-३१) इन विद्याधर की एक राज्स्तुतिपरक रचना का प्राकृतपैङ्लम् से एक उदहारण दिया गया है-

भअ भंजिअ बङ्गा भग्गु कलिंगा

तेलंगा रण मुक्कि चले|

मरहट्ठा दिट्ठा लग्गिअ कट्ठा

सोरट्ठा पाअ पले ||

चंपारण केपा पव्वय झंपा

ओत्था ओत्थी जीव हरे |

काशीसर राणा किअउ पआणा

विज्जाहर भण मंतिवरे ||

_ प्राकृतपैङ्लम्,२४४.

इस पद की भाषा निश्चित रूप से अपभ्रंश है।[1]इसलिए 'देशभाषा में रचना करते थे' कहने का मतलब हुआ अपभ्रंश में रचना करते थे। अतः यहाँ स्पष्टतः द्विवेदी जी अपभ्रंश को देश भाषा मान रहे हैं। सो इतना तो तय है कि यह राजकीय संरक्षण फिर एक बार 'भाषात्रयी' के उस सार्वत्रिक कोड से बाहर नहीं जा पाया है। इसलिए " इतना उदार और प्रभावशाली मंत्री देशी भाषा में कविता लिखता था, यही इस बात का सुबूत है कि आखिरी दिनों में गाहड़वाल-दरबार में और दरबारों की भाँति भाषा-कविता का सम्मान होने लगा था।" अपभ्रंश कविता के विषय में ही ठीक है।

अजमेर के चौहान वंश में 'बीसलदेव' का कवि होना और भाषा कवियों का संरक्षक होना अनुश्रुतियों में चला आ रहा है। 'बीसलदेव' अपभ्रंश नाम है और वह अपने को 'कविबांधव' भी कहता था। उसके राज्य में कोई जगडूसाहू (वसाह जगडुक) बड़े प्रसिद्ध दानी थे और इनकी दान की प्रशंसा में कुछ पद्य प्रचलित हैं जो पुरातन प्रबंध संग्रह और 'उपदेशतरंगिणी' में मिल जाते हैं। उसी प्रकार कालिंजर के चंदेलों के अंतिम प्रतापी राजा परमाल के दरबार में प्रसिद्ध वीर आल्हा-ऊदल हुए थे। द्विवेदी जी ने अनुमान किया है कि पृथ्वीराज से उसकी लड़ाई सन् ११८२ इसवी में हुई थी और सन १२०३ में वह कुतुबुद्दीन से लड़ा था। 'इन बीस वर्षों के भीतर ही कभी जाग्रिक का वह ओजपूर्ण काव्य लिखा गया होगा, जो बहुत दिनों तक आल्हा और ऊदल की स्मृति में लोक कंठ में जीता रहा और बहुत दिनों तक अपने क्षेत्र में ही सीमित बना रहा।' कई सौ वर्षों बाद अत्यंत परिवर्तित रूप में संकलित इस रचना से भी पता चलता है कि चंदेलों के दरबार में भाषा कविता का सम्मान होता था। परन्तु यह अनुमान ही अनुमान की बात है। वीरता और ओज की पुरानी स्मृतियों को भाटों और चारणों के बाद की पीढ़ियों ने अपने हिसाब से पुनर्रचित किया था। हो सकता है काव्य जनता के चित्त के सहारे उन्हीं की बोली में लंबे समय तक परिवर्तित रूपों में बना रहा हो। ऐसी बहुतेरी लोकगाथाएं जनता में प्रचलित रही आयीं हैं, लेकिन इनसे किसी ऐतिहासिक काल में 'भाषा-कवि' के सम्मान होने का अनुमान जितना सच हो सकता है उतना ही सच यह भी हो सकता कि भाषा-कवि का

---

[1] प्राकृतपैङ्लम् की भाषा के लिए देखें डॉ. भोलाशंकर व्यास. *प्राकृतपैङ्लम्: भाषा शास्त्रीय और छन्दःशास्त्रीय अनुशीलन,* प्राकृत-ग्रन्थ-परिषद् ग्रंथांक- ४,पृष्ठ-७०-९०. प्राकृत ग्रन्थ परिषद् , वाराणसी: १९६२.

राज्याश्रय में सम्मान न होने के कारण ही उसे केवल जनता के लोकचित्त में ही सुरक्षा और संरक्षण मिल पाया|

बहरहाल मालवा और गुजरात में भी उस समय जो राजकीय संरक्षण मिला था वह भी अपभ्रंश को ही मिला था| कुमारपाल और हेमचंद्र का संबंध भी इस संरक्षण को पुष्ट ही करता है| गुजरात में जैन धर्म को भी राजकीय संरक्षण प्राप्त था| इसलिए भी अपभ्रंश की रचनाओं को प्रोत्साहन और उनका संरक्षण वहाँ मिलता रहा था| मान्यखेट के राष्ट्रकूट भी 'अपभ्रंश' के संरक्षक थे और स्वयंभू तथा पुष्पदन्त जैसे कवियों की रचनाएँ वहीं सुरक्षित रहीं|

पूर्वी प्रदेशों में बौद्धों को पाल वंश का संरक्षण था और बौद्ध सिद्धों के चर्यागीत उनके तथा बाद में नेपाल दरबारों का आश्रय पा कर सुरक्षित रह गए| परन्तु विद्वान अब इस बात से सहमत हैं कि इन गीतों की भाषा का ढांचा शौरसेनी अपभ्रंश ही है और जिसमे भोजपुरी, मैथिली, मगही आदि का थोड़ा स्थानीय प्रभाव शामिल है| यह प्रभाव इसलिए था क्योंकि इनके रचयिता सिद्धों का सम्बन्ध नालंदा और विक्रमशिला जैसे विद्या-मठों से था, जहां की स्थानीय भाषाओं का कुछ प्रभाव उनकी रचनाओं में आना स्वाभाविक ही है|

द्विवेदी जी के अनुसार गहड़वारों के समय सारा हिंदी-भाषी क्षेत्र स्मार्त्त मतानुयायी था| आगे भी जब उनका प्रभाव क्षीण हो गया और अजमेर ,कालिंजर आदि अधीनस्थ प्रान्तों में स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गए तब भी यहाँ स्मार्त्त मत ही प्रभावी रहा| परन्तु "शैवमतानुयायी नाथ योगियों, रासेश्वर मत के मानने वालों,रस सिद्धों और मंत्र-तंत्र में विश्वास करने वाले शाक्त साधकों का इन क्षेत्रों में बड़ा जोर था"|(पृष्ठ-३९) परन्तु ये संगठित मत नहीं थे और जैनियों कि तरह इनका देश भाषा पर कोई विशेष अनुराग भी नहीं था| और तो और उनके उपदेशमूलक वक्तव्यों में 'साधारण जनता के सम्बन्ध में बड़ी अवज्ञा का भाव है"(वही)| उनके अनुसार साधारणजन चौरासी लाख योनियों में भटकने वाले, कामक्रोध के कीड़े, मायापंक में आपादमस्तक डूबे, अज्ञानीजीव –केवल घृणा करने और तरस खाने योग्य ही हैं| और

"इस प्रकार जनता के प्रति अवज्ञा और घृणा का भाव रखने वाले लोग लोकभाषा में कुछ लिखते भी हों तो वह लोक मनोहर हो नहीं सकता| कुछ थोड़ी सी रचनाएँ इन योगियों की मिल जाती हैं; पर एक तो उन्हें जैन पुस्तकों के समान भंडारों का आश्रय नहीं मिला, दूसरे वे आल्हा आदि की भांति लोकमनोहर भी नहीं हो सकीं| इनकी रक्षा का भार सम्प्रदाय के कुछ अशिक्षित साधुओं के हाथों रहा| उन्होंने इन रचनाओं को प्रामाणिक रूप में सुरक्षित रखने का प्रयत्न नहीं किया| जो कुछ भी साहित्य बचा है , वह केवल इस बात की सूचना दे सकता है कि वह किस श्रेणी का रहा होगा और उसकी प्राणवस्तु कैसी थी| परवर्ती साहित्य में इन योगियों का उल्लेख दो प्रकार से आया है,१) सूफी कवियों की कथा में नाना प्रकार की सिद्धियों के आकर के रूप में और २) सगुण या निर्गुण भक्त कवियों की पुस्तकों में खंडनों और प्रत्याख्यानों के विषय के रूप में| दोनों ही बातें इनके प्रभाव की सूचना देती है|"[1]

यह आश्चर्यजनक है कि जिस नाथ-योगियों की परम्परा का इतना विशदाख्यान कबीरादि संतों की बानियों के सन्दर्भ में खुद द्विवेदी जी ने किया है, उन्हीं नाथों –जोगियों को ऊपर एकदम से निकृष्ट बता रहे हैं और लोक विरोधी भी कह रहे हैं! द्विवेदी जी कि इस विशेष इतिहास दृष्टि पर हम अगले अध्याय में थोड़ी चर्चा करेंगे| फिलवक्त देखते हैं कि इसी व्याख्यान में अन्यत्र वह शैवमत के एक प्रधान और महत्वपूर्ण रूप नाथमत के बारे में क्या कहते हैं-

"जैनधर्म से प्रभावित होने के कारण, आंशिक रूप से बौद्ध साधना को आत्मसात करने के कारण, स्मार्त्तधर्म का आश्रय पाने के कारण और मुस्लिम आक्रमण के रूप में विजातीय संस्कृति की उपस्थिति के कारण वह निर्गुन्पंथी, सहनशील और उदासीन बना रहा| उसका आक्रामक रूप केवल जाति-व्यवस्था के प्रति, मायाजाल में फंसे हुए दयनीय जीवों के प्रति और दुर्नीतिमूलक आचरणों के प्रति जीता रहा| नहीं तो गोरक्षनाथ जैसे अक्खड़ साधक भी अपने शिष्यों को यही उपदेश दे गए हैं –

---

[1] हजारी प्रसाद द्विवेदी. *हिंदी साहित्य का आदिकाल*, पृष्ठ- ४०.बिहार- राष्ट्रभाषा- परिषद्, पटना: १९८०

कोई वादी कोई विवादी जोगी को बाद ण करनां |

अरसठी तीरथ समंद समानै यूँ जोगी को गुरुमषि जरनां ||

और-

हबकि न बोलिबा, ठबकि न चलिबा, धीरै धरिबा पांव |

गरब न करिबा, सहजैं रहिबा, भणँत गोरख रांव ||

अहिंसा में इन लोगों का इतना ही दृढ़ विश्वास था जितना जैनों या वैष्णवों का|"[1]

इस प्रकार नाथों की अक्खड़ता और झाड़फटकार के साथ वैष्णव प्रेम और अहिंसा के योग ने जो रचनाएँ दी वही द्विवेदी जी के लिए अभिप्रेय है और महत्वपूर्ण भी | शैव और वैष्णव प्रभावों की एकता इस युग की बड़ी विशेषता थी| ऐसी ही विशेषता विभिन्न वेदविरोधी और वेदानुयायी मतों को मानने वालों के यहाँ दिखाई देती है| विशिष्ट अस्मिताओं के धारण की हमारी आधुनिक दृष्टि उस युग में 'तरल अस्मिताओं' की इस एक साथ उपस्थिति को समझने में अक्सर असफल होती है|[2]द्विवेदी जी ने लिखा कि विद्यापति के पदों में शिव और विष्णु के मिश्र रूप का वर्णन देख कर जो लोग अचरज करते हैं और कहते हैं कि वे शैव थे और वैष्णव नहीं हो सकते थे; दरअसल वो उस काल की मनःस्थिति को नहीं जानते|[3]

धन हरी धन हर धन तब कला |

खन पीतवसन खनहिं बघछला ||

शिव सिद्धिदाता थे और विष्णु भक्ति के आश्रय| गहडवाल-नरेश अपने को माहेश्वर भी कहते थे और अपनी प्रशस्तियों में लक्ष्मी-नारायण की स्तुति भी किया करते थे| "इसी सहनशील, उदार

---

[1] वही,पृष्ठ-४२.

[2] देखें डेविड लौरेंज़न. 'गोरखनाथ और कबीर में धार्मिक अस्मिता: हिंदू, मुसलमान, जोगी और संत' *निर्गुण संतों के स्वप्न* में, अनुवादक- धीरेन्द्र बहादुर सिंह; संपादक-पुरुषोत्तम अग्रवाल. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली:२०१०.

[3] हजारी प्रसाद द्विवेदी. हिंदी साहित्य का आदिकाल,पृष्ठ-४३.

और अनाक्रामक धार्मिक मनोभाव की पृष्ठभूमि में हिंदी साहित्य का आदिकाल लिखा गया| भक्ति के बीज अंकुरित और पल्लवित होने की यह उपयुक्त भूमि थी|"[1]

इस सहनशील बहुअस्मिताओं के निर्माण के कारण उस युग में होने वाले परिवर्तनों ने अन्य कारकों से मिल कर उस युग की पूरी सामाजिक संरचना को विक्षोभों से भर दिया था| इस विक्षोभ के एक महत्वपूर्ण पहलू के रूप में आगे का संत काव्य लिखा गया इसमें कोई शक नहीं| इन परिवर्तनों ने राज्यस्तुतिमूलक वीरगाथात्मक रचनाओं और भट्टभणंतों की पतनशील प्रवृतियों का विकास भक्ति काव्य में न होने दिया| हिंदी प्रदेश में देश्यभाषाकरण ने खुद को उस विक्षोभ के अग्रगामी रूपों से जोड़ा, उससे प्रेरणा पायी और उसके सहारे पल्लवित हुई | द्विवेदी जी ने आदिकालीन धर्म-मतों और सामाजिक व्यवस्था के बीच एक फांक देखी थी| इसी फांक ने, इस दूरी ने उन धर्ममतों की अभिव्यक्ति को भी 'रहस्य' का पल्ला पकड़ने पर मजबूर किया था| आचारपालन और वंशशुद्धि की प्रेरणाओं ने उस युग को छोड़ा न था, फलतः एक स्तर के बाद बाह्याचारखंडन और 'यौनभावापन्न' साधना की अभिव्यक्ति 'संकोचपूर्ण, द्विविधाग्रस्त, रहस्यनिर्माणपरक और उलटबांसी- जैसी रचनाओं' के माध्यम से होने लगी| परन्तु जब सामाजिक व्यवस्था और धर्म मत में विरोध न रहा तो भक्ति काव्य में रहस्यात्मकता और संकोच भी गायब हो गए|

बहरहाल देशी भाषाओं में रचित साहित्य की अनुपलब्धता के बावजूद द्विवेदी जी ने जिन-जिन क्षेत्रों के सहारे साहित्यिक रूपों के निर्धारण का प्रयास किया है वह अपने आप में बहुत महत्वापूर्ण है| इस क्रम में वह लगातार अपभ्रंश में रचित काव्य की ओर जाते हैं| यह जानते हुए भी कि साहित्यिक अपभ्रंश देशभाषा नहीं थी आखिर वह अपभ्रंश की रचनाओं की ओर क्यों जाते हैं? साहित्यिक अपभ्रंश से अलग हेमचंद्र के 'ग्राम्य अपभ्रंश' में मिलने वाले पदों के प्रति द्विवेदी जी का अदम्य आकर्षण अकारण नहीं है| हम भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भले ही यह मान लें कि वह 'ग्राम्य अपभ्रंश' हिंदी नहीं बल्कि अपभ्रंश ही है और उनमें मिलने वाले दोहे, पद आदि देश भाषा के नहीं अपभ्रंश के ही उदाहरण हैं | परन्तु ये हमेशा ज़रूरी नहीं होता कि

---

[1] वही.

केवल लोकभाषा में ही लोक साहित्य लिखा जाए| जिन थोड़े से उपलब्ध रूपों में पुरानी सार्वत्रिक संस्कृति के काव्य रूपों और काव्य-संवेदनाओं से अलग हमें उस काल की सहज-सरल-सरस चित्तवृत्ति का काव्यमय आभास मिलता है वो इन्हीं 'ग्राम्य-अपभ्रंशों में सुरक्षित है| दरअसल इसी में उस बड़े आलोक की संभावना है जो उस युग के सम्पूर्ण मनुष्य को उद्भासित कर सकती है| इन थोड़े से उदाहरणों में ही द्विवेदी जी ' लोक जीवन के सरल हृदयों को बिना किसी धार्मिक आग्रह के व्यक्त' होता देखते हैं|' "वचन-वक्रिमा, अलंकरण चातुरी, शब्द गुम्फ, अनुप्रासों की छटा, यमकों की घटा, विकट पद बंध और बुद्धि वैभव से अनुस्यूत उक्ति-विलास के मनोरम कला जगत"[1] वाले माघ, भारवी और श्री हर्ष के वाग्वैभव का संस्कृत साहित्य "बड़े-बड़े छंदों में बंधी हुई कवि-प्रौढ़ोक्ति की दुरुहता और विद्वतग्राह्यता के कारण काव्यलक्षणों की बारीकियों, शब्दशास्त्र के अनुशासन और उक्ति वैचित्र्य की मार्मिक जानकारी की अपेक्षा रखती हैं; राजनीति के निपुण घात-प्रतिघातों, राज सभा के आभीजात गृहीत कायदे-कानूनों, वस्त्रालन्करण की परिपाटी-विहित विच्छित्तियों और माल्य-उपलेपन-अंगरागों की सहृदयजन-वांछित विधियों के ज्ञान की आवश्यकता चाहता है; शोभा,विलास,कांति, हाव-भाव, विव्वोक, मोट्टयित, कुट्टमित,आदि अयत्नज और यत्नज चेष्टाओं के भेदोपभेदों के रसास्वादन की आवश्यक शर्त मानता है"|[2] स्वम्भू, त्रिभुवन और पुष्पदंत- जैसे कवियों की काव्य भाषा भले ही अपभ्रंश हैं किन्तु हैं वो भी शास्त्रीय परम्परा के, संस्कृत-प्राकृत के पांडित्य-बोझ से दबे, अलंकार, रस और पिंगल के ज्ञान से भरे 'विकट बांध के कवि'| लेकिन 'इसी पांडित्यख्यापिनी, बुद्धि ग्राह्य, सावधान-पाठ्य मनोरम आभिजात्य काव्य के वातावरण में' ग्राम्य अपभ्रंश की इन 'सहज-सुकुमार मर्मभेदी अव्याज्य-मनोहर कविताओं' की सीधी-सहज बात सहृदय के हृदय पर सीधी चोट करती है| यहाँ 'अलंकरण के लिए कोई आयास नहीं, वक्रभंगिमा के लिए दौड़-धूप नहीं, परिपाटी-विहित रसिकता की परवा नहीं,लीला विलास विच्छितियों के लिए निपुण विवेचन

---

[1] देखें हजारी प्रसाद द्विवेदी. *हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली,खंड-६*. संपादक-मुकुंद द्विवेदी, पृष्ठ-२९५. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली:२००७.

[2] वही, पृष्ठ-२९५-२९६.

की कोई खबर नहीं'[1]-ये हैं वास्तव में –'सरस मानस की सहज अभिव्यक्ति!' कौन कहेगा कि ये लोकपरम्परा से उपजी नहीं हैं! ये पंडितों के लिखे नहीं हैं,'पंडित वो हों भी तो पंडिताई से बहुत ऊपर उठे हैं'-सहज साधक हैं! अकारण नहीं कि अपभ्रंश के इन उदाहरणों में ही वो झलक द्विवेदी जी को दिखती है जो काव्य को लोक की ओर खींचे लिए जा रही थी|-

जइ पुच्छह घर बड्डाइँ तो बड्डा घर ओइ |

बिहलिअजण-अब्भुद्धरणु कंतु कडीरइ जोइ||

(भले मानस तू अगर बड़े आदमियों के बड़े-बड़े महलों को पूछता है तो देख, बड़े महल वे हैं| पर ऐसे महँ का घर पूछता है जो संकट-कातर लोगों के उद्धार का सामर्थ्य रखता है तो देख उस कुटिया को जहां मेरा कन्त रहता है|)[2]

इन सरस दोहों से द्विवेदी जी इतने प्रभावित हैं कि अपने 'गप्पों' में जब जहां मौक़ा मिलता है, जब भी ग्राम्य जीवन का कोई उपयुक्त प्रसंग आता है, कोई उत्सवधर्मी मौक़ा आता है, कोई सहज बात- दिल को छू लेने वाली बात करनी होती है, इन सरस भाव सिक्त दोहों को किसी न किसी ग्राम्य सखी-सहेली या किसी मनमौजी चरित्र से गवाए बिना चूकते नहीं| 'पुनर्नवा' की मृणाल आर्यक की सेना छोड़ने की खबर से उद्वेलित है| अकेली पड़ गयी है| सहानुभूतिवश सारा गांव ही उदास हो गया है| ग्राम-तरुणियाँ मृणाल के मनोरंजन का जो भी उपाय करतीं, उनका प्रभाव उलटा ही पड़ता| समझ न पड़ता कि क्या किया जाए| ऐसे में कार्त्तिक पूर्णिमा को ग्राम तरुणियों ने गोवर्धन-धारण की लीला का निश्चय किया| "यह लीला बड़ी ही मनोहर थी| गोवर्धन-धारी कृष्ण एक हाथ में वंशी लिए हुए और दूसरे हाथ की उंगली ऊपर किये खड़े थे| तरुणियाँ उनके चारों ओर उल्लसित होकर नाच रहीं थीं| प्रायः सारा नृत्य अशिक्षित चरण-न्यास से बोझिल हो उठा था| वर्षा-नृत्य में नूपुरों की झीनी ध्वनि उत्पन्न करने

---

[1] वही, पृष्ठ-३०१.

[2] देखें हजारी प्रसाद द्विवेदी. *हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली,खंड*-६. संपादक-मुकुंद द्विवेदी, पृष्ठ-३००. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली:२००७.

का उनका प्रयास बहुत सफल सिद्ध नहीं हो रहा था| मृणाल पहले तो हंसती रही , पर एकाएक उसमें भावावेश आया और उन्मत्त भाव से थिरक उठी| तरुणियों का उत्साह सौ गुना बढ़ गया, पर वो मृणाल के इशारे पर रुक गयीं| फिर तो मृणाल की मेखला, नुपुर और कंकण-वाले के उग्पट क्वणन का ऐसा समा बंधा कि मूसलाधार वर्षा का पूरा ध्वनि-चित्र उपस्थित हो गया|मृणाल देर तक भाव-मदिर नर्तन से अभिभूत रही| फिर वह गोवर्धनधारी के पास आकार ठिठक गयी| उसके इशारे पर तरुणियाँ फिर नाचने लगीं| मृणाल श्रांत होकर गोवर्धनधारी के पास त्रिभंगी मुद्रा में खडी हो गयी| अशिक्षित चरणों का असंयत नृत्य पूरे वेग पर था| मृणाल की एक सखी गा उठी:

जइ पावउँ केरीसु पिउ कुडुआ इक्कु करीसु |

पाणिहिं णवइ सरावि जिउँ अंगेंगेहि पवसीसु ||

(कौनहु विधि पिय पाउँ जो, कौतुक एक करेउँ |नव कलसी के नीर ज्यों, अंग-अंग पइसेउँ ||)"[1]

गीत की इन पंक्तियों ने मृणाल को एक विचित्र प्रकार की व्याकुलता से भर दिया| रह-रह कर उसके मन में वह गान आ जाता| कहना न होगा कि इस गान की योजना और उसका भावमय प्रभाव द्विवेदी जी की ग्राम्य अपभ्रंश सम्बंधिनी दृष्टि का ही विस्तार है| ऐसे ही भावावेश के एक क्षण में मंजुला ने भी हेमचंद्र के उसी ग्राम्य-अपभ्रंश का एक दोहा गाया था| " उस दिन वह वास्तविक 'भावानुप्रवेश' की अवस्था में थी| उसने संस्कृत का श्लोक नहीं पढ़ा, प्राकृत की आर्या नहीं सुनाई, सुनाया ग्राम्य भाषा में प्रयुक्त होने वाला विरह गीत (बिरहा) का अत्यंत मनोहर दोहा छंद| व्याकुल वाणी में उसने सुनाया:

दुल्लह जण अणु राउ गरु लज्ज परबस्सु प्राणु |

सहि मणु विसम सिणेह बसु मरणु सरणु णहु आणु ||

---

[1] देखें हजारी प्रसाद द्विवेदी. *हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली,खंड-२.* संपादक-मुकुंद द्विवेदी, पृष्ठ-११६. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली:२००७.

(दुर्लभ जन अनुराग बड़ि लज्जा परबस प्रान |

सखि मन विषम सनेह-बस, मरन सरन, नहिं आन||)"[1]

और दोहे का प्रभाव इतना कि देवरात जब कभी एकांत में होते उदास स्वर में इसे गुनगुना उठते| फिर इन गीतों में व्यक्त होते विरोध की चेतना को द्विवेदी जी कैसे लक्ष्य न करते| भावजगत के विद्रोह के संकेत को कैसे न देखते| इधर आचार्य पुरगोभिल शास्त्र-चर्चा कर रहे थे, और उधर आभीर महिलाओं की मंडली कोई उद्दाम मनोहर नृत्य कर रही थी| शास्त्र चर्चा खतम होते ही संयोगवश नृत्य भी रुक गया| " परन्तु यह क्षण-भर की शान्ति अचानक टूट गयी| एक युवती कोमल कंठ से अकेली ही कुछ सुनाने लगी| कंठ मनोहर था, स्वर स्पष्ट था और जान पड़ता था कि वह जान बूझ कर प्रत्येक पद का स्पष्ट उच्चारण करती जा रही थी| आचार्य पुरगोभिल के कान उसी ओर लग गए – बिना किसी चेष्टा व इच्छा के| तरुणी ने एक-एक पद पर जोर देते हुए गाया:

सत्थर –लोय –निवारिय पिय –उक्किंखिररिय,

मुअइ धुअइ पुणु सुक्खइ संगम वावरिय |

सुविणंतरि बि न लहइ सुहय पिय तण-फरसु |

को पुणु रहसालिंगणु मोहणु मिलण-रसु ||

सो जलउ सुवित्थरु सत्थरु पुरजन-वज्जणउ |

जो पिय जण मिलणु णिवारइ मारइ सज्जणउ ||

(शास्त्र और लोक से निवारित प्रिय के लिए उत्कंठित तरुणी संगम के लिए व्याकुल होकर मर रही है, कांप रही है, सूख रही है| वह सपने में भी सुभग प्रिय के शरीर का स्पर्श नहीं पा रही है,

---

[1] वही, पृष्ठ-२४. दोहा हेमचंद्र ने अपने ग्राम्य-अपभ्रंश सम्बन्धी उदाहरण में दिया है| द्विवेदी जी ने वहीं से इसे लिया| देखें हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली,खंड-२९७.

फिर प्रत्यक्ष गाढ़ आलिंगन के सुख और मिलन के मोहन-रस की तो बात ही कहाँ उठती है! वह शास्त्र और पुरजनों का बरजना जल जाए, जो प्रिय-मिलन का निवारण करता है और साजन को मार डालता है|)"[1]

और " आचार्य पुरगोभिल ने अमात्य की तरफ देखा और मुस्कुराते हुए कहा, " सुन लिया धर्मावतार, हर गांव में, हर हाट में, हर गली में ये गाने सुनाइ देंगे| आज आप इसे केवल भाव-लोक का विद्रोह कह कर टाल सकते हैं| पर लोक मानस में शुष्क धर्माचार और रूढ़ मान्यतायों के प्रति यह भाव-लोक का विद्रोह किसी दिन वस्तु-जगत् के विद्रोह का रूप ले सकता है! "[2]क्या यह गल्प में इतिहास की पुनर्निर्मिति नहीं है! अपभ्रंश कविता, आभीर महिलायें, और शास्त्रों के बरजने की घोषणाएं| लोक की ओर झुकना और क्या है! इन समृद्ध, सहज और मनोरम दोहों में अगर लोक काव्य और उनकी संवेदना की अनुगूँज है तो मानना होगा कि हिंदी काव्य की प्राणधारा इनसे ज़रूर अनुप्राणित हैं| और इस प्रकार आदि कालीन इतिहास लेखन इनको छोड़ कर नहीं चल सकता| ये वास्तव में 'देश्यभाषाकरण' की संवेदना के अग्रदूत हैं| एक बड़े आलोक की संभावना!

---

[1] वही,पृष्ठ-१६५.
[2] वही,पृष्ठ-१६६.

अध्याय ३

आचार्य द्विवेदी की इतिहास दृष्टि और हिंदी साहित्य का आदिकाल

३.१ मध्यकालीन बोध का स्वरुप और हिंदी साहित्य का आदिकाल.

"किसी काल विशेष के साहित्य-बोध या साहित्य संवेदना समझने का क्या उपाय है? क्या वे सारे ग्रन्थ जो उस काल विशेष में लिखे गए, उस काल की संवेदना को प्रकट करने के एकमात्र समर्थ साधन हैं या कुछ और भी बातें इसके लिए आवश्यक हैं?... मेरी दृष्टि में सम्पूर्ण साहित्य बोध को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उन कवियों, ग्रंथकारों और कृतियों की जानकारी प्राप्त करें जो उस काल विशेष में आदर्श, अनुकरणीय और व्याख्येय समझे गए थे | फिर हमें उन आचार्यों का परिचय भी प्राप्त करना होगा जिनके बताए हुए कायदे-कानून , विधि निषेध और आदर्श इस काल में स्वीकार कर लिए गए थे|फिर हमें उन लोकप्रिय किंवदंतियों का विश्लेषण करना भी आवश्यक हो सकता है, जो श्रेष्ठ समझे जाने वाले कवियों और साहित्यकारों में प्रचलित हो गयीं थीं| इन किंवदंतियों में प्रच्छन्न रूप से लोकप्रिय साहित्य मान और उत्तम रचना की कसौटी विद्यमान रहती है| फिर विभिन्न रचनायों पर लिखी गयी टीका-टिप्पणियां भी हमें उस काल विशेष की प्रवृत्तियों का परिचय दे जाती है| कभी-कभी साहित्य क्षेत्र से बाहर जाने की भी ज़रूरत पड़ सकती है, क्योंकि साहित्य के पीछे अनेक प्रकार की धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक शक्तियां काम करती रहती हैं और किसी प्रश्न के यथार्थ स्वरुप को समझने के लिए उसे वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में रखना आवश्यक हो जाता है|"(पृष्ठ-१८, खंड ५)

हजारी प्रसाद द्विवेदी की इतिहास दृष्टि का उनके सांस्कृतिक चिंतन से बहुत नज़दीकी रिश्ता है| वह साहित्य के इतिहास को व्यापक सांस्कृतिक इतिहास के साथ-साथ देखने और परखने के हिमायती हैं| इसलिए वहाँ साहित्य का इतिहास भी केवल साहित्यिक रचनाओं तक सीमित नहीं है बल्कि किसी युग के पूरे साहित्यिक संस्कृति के बोध तक विस्तृत है| साहित्यिक संस्कृति के बोध के बिना 'जनता के चित्त' को समझना दूर की कौड़ी है| इस बोध के बिना कई बार हमारी अपनी विशेष दृष्टि साहित्य के मूल्यांकन और उसके अभिग्रहण का एक मात्र आधार हो जाती है| इस कारण हम उस विशेष दौर के साहित्यिक बोध को पूरी तरह समझ ही नहीं पाते और न ही साहित्य इतिहास में उसे ठीक ढंग से व्यवस्थित ही कर पाते हैं| और इसीलिए प्रकारांतर से इतिहास की व्याख्या भी गलत ही करते हैं| साहित्य इतिहास के साथ यह एक आम समस्या है| किसी काल विशेष के साहित्यिक और गैर साहित्यिक रचनाओं का निर्धारण और उनकी समीक्षा का कार्यभार कैसे संभव हो यह भी एक समस्या है| जिन रचनाओं को हम कई बार अपने विशेष पूर्वग्रह के चलते गैरसाहित्यिक कोटि में डाल देते हैं वह उस युग के साहित्यिक संस्कृति का अनिवार्य हिस्सा होता है| कहना न होगा कि किसी काल खंड के सम्पूर्ण साहित्य-बोध की पहचान इतिहास-लेखन के लिए अनिवार्य शर्त है| किन रचनाओं को किसी काल विशेष के लोग साहित्य मान रहे थे , या किस साहित्य बोध से परिचालित होकर रचनाएँ हो रही थीं, उन रचनाओं को उस वक्त समाज कैसे ग्रहण कर रहा था, किसे अच्छी मान रहा था किसे बुरी ठहरा रहा था, उसका उनके दैनंदिन जीवन से क्या रिश्ता था, उनकी जीवनदृष्टि से उन रचनाओं का क्या रिश्ता था- आदि बातों का निर्धारण साहित्य-इतिहास के लिए बहुत ज़रूरी हैं| इन सबों का सम्मिलित रूप ही उस वक्त विशेष की साहित्यिक संस्कृति का निर्माण करतीं हैं|

रामचंद्र शुक्ल ने 'साहित्य' की एक विशेष कोटि का निर्धारण किया था और उस कोटि से तथाकथित उन साम्प्रदायिक/धार्मिक रचनाओं को बहिष्कृत किया था जो 'मध्यकाल' के, खास तौर पर सगुणभक्ति-पूर्व के बहुलांश को बनाती हैं| यह एक विशेष इतिहास दृष्टि थी जहां 'साहित्य' 'संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी' से पहचाना जाता है| यह साहित्य की

उस संस्कृति से निकली परिभाषा है जहाँ 'संस्कृत' 'जनता की चित्त वृत्ति' का ही प्रतिबिम्बन साहित्य में महत्वपूर्ण है अथच काम्य है| यह साहित्यिक संस्कृति एक विशेष प्रकार के साहित्यिक पांडित्य और काव्यशास्त्रीय संस्कार से बनती है| इसलिए इसमें काव्य की अभिजन परम्परा की दीक्षा के बिना कोई प्रवेश संभव नहीं| द्विवेदी जी के इतिहास बोध का मौलिक विरोध यहीं से अपनी विशिष्ट पहचान अर्जित करता है|

धर्मसाधना की मूल प्रेरणा वाला 'मध्यकालीन' साहित्य उस प्रक्रिया को एक धक्का था जो 'काव्य' और धर्म के, 'काव्य' और शास्त्र के, 'काव्य' और भाषा के एक खास पैटर्न को मानता आया था| पुरानी परम्परा के पोषक लितराती से मुक्ति एक व्यापक प्रक्रिया की उपज थी जो खुद ही अपने आप को कई स्तरों पर व्यक्त कर रही थी| उस प्रक्रिया को और उसके स्तरों को ठीक-ठीक उनके ऐतिहासिक सन्दर्भ में देखना ज़रूरी है| इनकी पहचान का एक रास्ता धर्ममतों और विभिन्न साधना पद्धतियों के अध्ययन से होकर गुजरता है| भारतीय समाज और उनके धार्मिक विश्वास इतिहास में परिवर्तन के साथ-साथ होने वाली प्रक्रियाओं में एक दूसरे से इस तरह जुड़े हैं कि एक के परिवर्तन दूसरे पर अपनी अनिवार्य छाप छोड़ते चले आये हैं| अंग्रेजी का सहारा लें तो इनके बीच एक सिम्बायोसिस रहता चला आया है| परस्पर अन्तरनिर्भरता | यह अकारण नहीं कि मध्यकालीन बोध के स्वरुप को समझने के लिए द्विवेदी जी उस युग के धर्म-मतों की गतिशीलता और उनके परिवर्तन के इतिहासों की खो गयी कड़ियों को जोड़ने का प्रयास करते हैं| परिवर्तन की व्यापक प्रक्रिया को समझने के लिए यह ज़रूरी था| और भारतीय इतिहास और संस्कृति के वृहत्तर सन्दर्भ भी इन धर्म-मतों के अध्ययन के बिना अधूरे हैं| और कहना न होगा कि ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को इस दृष्टि से देखने का काम कम ही हुआ है| हुआ भी है तो उनके निष्कर्षों को अधिकांशतः 'धर्म के इतिहास' में ही परिसीमित कर दिया गया है| इतिहास लेखन की मुख्य धारा में इन अध्ययनों का उपयोग न के बराबर ही हुआ है| इन धर्म-मतों के इतिहास के लिए अधिकांशतः संस्कृत के स्रोतों का ही इस्तेमाल होता आया है, जबकि-

> " इस समूचे धर्म-मत के अध्ययन का एक मात्र उत्स पुराना हिंदी साहित्य ही है| हम लोगों ने इस उत्स का वास्तविक मूल्य नहीं समझा है| अभी भी हम हिंदी साहित्य के

> केवल साहित्यिक पहलू का अध्ययन करकर चुप हो जाते हैं| अब भी संतों और भक्तों की उक्ति के अनुसार उनके उत्कर्ष की श्रेणी का विचार करने में हम समय नष्ट कर रहे हैं | साहित्यिक अध्ययन बहुत बड़ी चीज़ है! पर हिंदी में उपलब्ध साहित्य का मूल्य केवल साहित्यिक नहीं है| वह हमारे हजार वर्ष के सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक साधनों के अध्ययन का सबसे बहुमूल्य और सबसे विशाल साधन है| समूचे मध्य युग के अध्ययन के लिए संस्कृत की पोथियों की अपेक्षा इस भाषा का साहित्य कहीं अधिक उपादेय और विश्वसनीय है| यह लोक जीवन का सच्चा और सर्वोत्तम निर्देशक है|"[1]

यह बात उस प्रदेश के इतिहास के लिए कही जा रही है जिसे आजकल हम हिंदी भाषी प्रदेश कहते हैं| हिंदी भाषा के साहित्य में प्रयोग होने के समय से 'भारतीय संस्कृति एक विशेष दिशा में मुड़ चुकी थी'| इसकी सूचना निश्चित रूप से अपभ्रंश की कुछ रचनाओं से भी मिलती है| इसलिए हिंदी साहित्य के आदिकाल का सम्बन्ध अनिवार्य रूप से बोध के उस रूप से था जिसे धर्म-साधनाओं और धर्म-मतों के परिवर्तन से द्विवेदी जी लक्षित करना चाह रहे थे| और इस आदिकाल में मिलने वाले काव्यरूपों के सहारे ही उस बोध तक पहुंचा जा सकता है-

> "यह एक अत्यंत विचित्र और संकेतपूर्ण बात है कि मध्ययुग के अपभ्रंश साहित्य की जो कुछ भी काव्य-पद्धति है- बौद्धों के दोहे और पद, जैन मुनियों के निर्गुण भाव के पाहुड़ दोहे , सिद्धों के दोहा-चौपाई में लिखने की प्रथा, जैन कवियों के कड़वकबद्ध चरित काव्यों की परम्परा- सबका अवशेष हिंदी के आदिकालीन साहित्य में मिलता है अर्थात आरंभिक हिंदी साहित्य की लालटेन यदि ठीक जलाई जा सकी तो हम पूर्व-मध्यकाल के अंधकार में आसानी से घुस सकेंगे|"

इन धर्म-मतों के इतिहास में द्विवेदी जी मूलतः वेद-विरोधी मतों के इतिहास की व्याख्या करते हैं| विचारधाराओं की जटिल प्रक्रियाओं पर विचार करते हुए वह साधारण जन के बोध को समझने का प्रयास करते हैं| साधारण जन के 'सामान्य बोध' को समझाने के क्रम में

---

[1] हजारी प्रसाद द्विवेदी. *हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खंड-५*. संपादक-मुकुंद द्विवेदी, पृष्ठ-४२०-४२१. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली:२००७.

वह शास्त्रीय और उच्चतर दार्शनिक प्रस्थापनाओं से उसके सम्बन्ध को भी रेखांकित करते चलते हैं| और इतिहास की पद्धति होती है- 'मतों, आचार्यों, संप्रदायों और दार्शनिक चिंताओं के मान-दंड से लोक-चिंता को नहीं मापना' बल्कि 'लोक चिंता की अपेक्षा में उन्हें देखने' की| इस क्रम में वह लघु और महत परम्पराओं की द्विविभाजकता को उस तरीके से पृथक नहीं मानते जैसा कि बहुत सारे अन्य सांस्कृतिक चिंतकों ने दिखाने का प्रयास किया है| द्विवेदी जी की लोक-चिंता कई बार ग्राम्शी के चिंतन की याद दिलाती है और अकारण नहीं कि नामवर सिंह ने उनके लोक संबंधी चिंतन को ग्राम्शी के सबाल्टर्न बोध से जोड़ा भी है| ऊँची और नीची संस्कृतिओं की द्विवेदी जी की व्याख्या में उस प्रक्रिया के विकास को समझने की भी कोशिश है जिसे डी.डी. कोसाम्बी ने अपने 'मिथक और यथार्थ' में व्यक्त किया था-

> "विकास की यह प्रक्रिया केवल उन दार्शनिक पद्धतियों के अध्ययन से स्पष्ट नहीं हो सकती जो भारत में पहले से प्रचलित थीं| शंकराचार्य, उनके पहले के बौद्ध और बाद के वैष्णव, सबने विश्वास के साथ दो अलग-अलग स्तर कायम कर दिए थे: उच्च स्तर और निम्न स्तर| उच्च स्तर हर तरह से आदर्श और आध्यात्मिक था जहां मनुष्य की आत्मा कल्पित पूर्णता का शिखर चूमती थी| निम्न स्तर रोज-रोज की कर्मकांडी कुप्रथाओं के अनुष्ठान में ही आनंद मनाने वाले साधारण लोगों का स्तर था|"[1]

रोज-रोज या 'एवेरी डे प्रैक्टिसेस' में व्यक्त होने वाली साधारण लोगों की संस्कृति कहाँ उच्च स्तर की आदर्शवादी व्यवस्था और काल्पनिक पूर्णता से अपने को दूर करती है और कहाँ उसके मातहत हो जाती है यह धर्म-शास्त्रों और दर्शन की किताबों को पढ़ कर निकाले गए नॉर्मेटिव निष्कर्षों से तय नहीं हो सकते| सामाजिक यथार्थ और नॉर्मेटिव मूल्यों में कई बार बहुत अंतर होता है| धर्म-मतों और भारतीय समाज की व्याख्या औपनिवेशिक दौर में एक विशेष प्रकार की नॉर्मेटिव संरचना में बद्ध कर दी गयी थी| इसने एक जड़ 'भारतीयता' का मिथक गढ़ा था| धार्मिक विश्वासों, हिंदू परम्परा, जाति व्यवस्था और भारतीय दर्शन आदि के बारे में एकाश्मी परिकल्पनाएं प्रचारित की गयी थीं| यह परम्पराओं और संस्कृतिओं को उच्च-पाठों पर गढ़े गए

---

[1] डी.डी.कोसाम्बी. *मिथ एंड रीयलिटी*, पृष्ठ-१. पॉपुलर प्रकाशन, बॉम्बे: २००५.

इकहरे मिथक में थिर करना था| निकोलस डर्क्स इसे 'textualization of tradition'[1]कहते हैं| इस प्रक्रिया ने हमारे राष्ट्रवादी इतिहास बोध को बड़ी दूर तक प्रभावित किया था| अपनी तमाम विशेषताओं के बावजूद शुक्ल जी की इतिहास-दृष्टि नॉर्मेटिव ही थी| इस नॉर्मेटिव इतिहास-दृष्टि से मुक्ति का पहला प्रयास आचार्य द्विवेदी ने किया| उन्होंने ही हिंदी साहित्य के इतिहास को पहली बार एक विवरणात्मक (descriptive) आधार दिया| इस विवरणात्मक आधार ने राष्ट्रवादी इतिहास लेखन से मुक्ति की राह निकाली थी| परन्तु ऐसा नहीं है कि द्विवेदी जी उससे पूरी तरह मुक्त हो गये थे|

गुप्त काल के प्रति उनका अतिशय प्रेम जिन शब्दावलियों में व्यक्त होता है वे राष्ट्रवादी इतिहास लेखन की निर्मितियां हैं| वहाँ 'राष्ट्रीयता' या 'जातीयता' तथा 'स्वर्णयुग' की अवधारणाएं संस्कारवश स्वभावतः ही आ जाती हैं| यूरोपीय 'अंधकार-युग' की अवधारणा के निषेध में 'राष्ट्रीय' 'स्वर्णयुग' की प्रतिष्ठा राष्ट्रवादी इतिहास लेखन का एक महत्वपूर्ण प्रोजेक्ट था| द्विवेदी जी लिखते हैं-

> "गुप्तकाल में **राष्ट्रीय गौरव** का पुनरुत्थान होता है| बाहरी आक्रमणकारियों का उपद्रव बहुत कुछ शांत हो जाता है और **आसेतु-हिमाचल पूरा देश** सुरक्षा के वातावरण में सांस लेता है| गुप्तकाल के अंतिम दिनों में भी किसी-न-किसी प्रकार की सुरक्षा बनी रहती है| पर बाहरी आक्रमणों का तांता भी बंध जाता है| ब्राह्मण धर्मानुमोदित व्यवस्था के नष्ट होने का भय भी बना रहता है... इस **समय सनातन वैदिक धर्म नया तेज और यौवन पाकर बड़ा शक्तिशाली हो गया**| गुप्त सम्राटों के समय **भारतवर्ष नवीन उल्लास से उत्फुल्ल था**|...वस्तुतः यूरोप के इतिहास में जिस समय मध्ययुग का प्रारम्भ हुआ, उस समय भारतीय इतिहास में नवीन उत्साह और नवीन जोश का उदय हुआ था| संस्कृत भाषा ने नयी शक्ति प्राप्त की और **समूचे देश में एक नए ढंग की राष्ट्रीयता की**

---

[1] देखें निकोलस डर्क्स. *कास्ट्स ऑफ माइंड: कोलोनियालिज्म एंड द मेकिंग ऑफ मॉडर्न इंडिया*, अध्याय 'द टेक्स्चुअलाइजेसन ऑफ ट्रेडीसन: बायोग्राफी ऑफ एन आर्काईव'. परमानेंट ब्लैक, दिल्ली: २०१०

लहर दौड़ गयी| इस काल में राज-काज से लेकर साहित्य, धर्म और सामजिक विधि-व्यवस्था तक में एक **विचित्र प्रकार की क्रान्ति** का पता लगता है|"[1](जोर मेरा)

बहरहाल द्विवेदी जी ने आठवीं शताब्दी से भारत में एक 'जब्दी हुई और स्तब्ध' तथा 'कुंठित मनोवृति' का पूरी तरह से व्याप्त होना स्वीकार करते हुए इतिहास में मध्यकाल का प्रारम्भ माना है| यह 'मध्यकाल'आठवीं से अठारहवीं शताब्दी तक व्याप्त है और इसकी अनन्य विशेषता अनुकरण की है| आठवीं शताब्दी से ही वह साहित्य में 'टीका-युग' का आरंभ मानते हैं| इस लंबे काल को वह दो भागों में बाँटते हैं- आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक पूर्व-मध्यकाल है तथा तेरहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक उत्तर-मध्यकाल| यह विभाजन 'मुसलमानों' के आगमन से सम्बंधित है| द्विवेदी जी का मानना है कि "यद्यपि मुसलमानों का आगमन इस देश में पहले ही हो चुका था, पर बारहवीं शताब्दी के बाद ही वे इस देश के सांस्कृतिक सन्दर्भ में अनुभव किये जाने योग्य हो सके|"[2] इस प्रकार उनका काल विभाजन का ढांचा राष्ट्रवादी इतिहास लेखन से अलग नहीं था| हिंदी साहित्य का आदिकाल पहले और दूसरे हिस्से दोनों में व्याप्त है| आदिकाल और भक्तिकाल की उनकी व्याख्या उनके ही 'मध्यकालीन बोध' के कुंठित और स्तब्ध मनोवृत्ति के विपरीत जाती है| भक्तिकाल के प्रसंग में तो उन्हें किंचित स्पष्टीकरण की भी ज़रूरत महसूस हुई| वह लिखते हैं-"भक्ति-साहित्य अपने आप में स्तब्ध और कुंठित साहित्य नहीं है, पर परिवर्तन का लक्ष्य अदृष्ट होने के कारण वह पूर्ण मुक्त नहीं है|"[3]

हमने लक्ष्य किया था कि देश्यभाषाकरण एक सचेत चयन का परिणाम था| इस सचेत परिवर्तनेच्छा को द्विवेदी जी आधुनिक काल की विशेषता मानते हैं| परन्तु आदिकाल के इस बड़े क्रांतिकारी परिवर्तन को खुद उनकी दृष्टि 'स्तब्ध' और 'कुंठित मनोवृति' ही मान लेती है| ऐसा संभवतः राष्ट्रवादी इतिहास लेखन के प्रभाव के कारण था| ऐसा इसलिए भी हुआ क्योंकि उनकी इतिहास दृष्टि में धर्म-मतों और साधना-पद्धतियों के परिवर्तन और साहित्य में लोक दृष्टि के

---

[1] हजारी प्रसाद द्विवेदी. *हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खंड-५.* संपादक-मुकुंद द्विवेदी, पृष्ठ-२२,२६,२७. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली:२००७.

[2] वही,पृष्ठ-२८.

[3] वही,पृष्ठ-२५.

व्यापक उन्मेष के आधारभूत सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक कारकों की पड़ताल शामिल नहीं थी| वह समाज के व्यापक परिवर्तन को तो लक्ष्य कर लेते हैं लेकिन यह मूल रूप से विचारधारात्मक परिवर्तन को लक्षित करना ही रह जाता है| और इसीलिए भक्ति साहित्य के इहलौकिक मुक्ति वाला सन्दर्भ गायब हो जाता है| यह द्विवेदी जी के इतिहास दृष्टि की एक बड़ी कमी थी जिसे ठोस सामजिक-आर्थिक सन्दर्भ में रख कर व्याख्यायित करने की कोशिश बाद में रामविलास जी ने की और पिछले कुछ वर्षों से 'आरंभिक आधुनिकताओं' के इतिहासकार एक भिन्न दृष्टिकोण से उस काल को देख रहे हैं| लेकिन हमारे लिए जो महत्वपूर्ण है वह है द्विवेदी जी का राष्ट्रवादी इतिहास लेखन से मुक्ति का प्रयास| और यह प्रयास उनके यहाँ संस्कृतियों और परम्पराओं की बहुलता को लक्षित करने वाली और विशेष कर लोकचिंता वाली दृष्टि के उन्मेष में दिखाई पड़ती है|

३.२ राष्ट्रवादी इतिहासलेखन से मुक्ति का प्रयास: लोक और शास्त्र का द्वंद्व

द्विवेदी जी के यहाँ राष्ट्रवादी इतिहास लेखन का एक खाका था जिसमे उन्होंने 'मध्यकालीन बोध' को अवस्थित किया था|परन्तु अपनी विवरणात्मक इतिहास दृष्टि के कारण उन्होंने भारतीय इतिहास और संस्कृति में अनेक धाराओं के समान्तर अस्तित्व और उनके अंतर्लयन को भी लक्षित किया था| 'भारतीय संस्कृति' की अवधारणा को उनकी अंतर्दृष्टि ने विभाजित देखा था| 'मध्यकालीन' धर्मसाधनाओं और आचार-विचार की अनेक सरणियों में जो-जो परिवर्तन ईसा की दसवीं सदी से चौदहवीं सदी तक हो रहे थे उसमें उन्होंने शास्त्रानुमोदित ब्राहमण व्यवस्था को लोक की ओर झुकते देखा था| कई आलोचकों ने आरोप लगाया है कि द्विवेदी जी का 'लोक' वस्तुतः ग्राम्शी का सबाल्टर्न नहीं है जैसा कि नामवर सिंह ने दिखलाने की कोशिश की है| वीर भारत तलवार ने द्विवेदी जी की इतिहास दृष्टि में आने वाले 'स्मार्त्त धर्म', 'वैष्णव धर्म' और 'गृहस्थ हिंदू' जैसे पदों की व्याख्या करते हुए द्विवेदी जी की

समन्वयकारी पक्षधरता और 'मूल भारतीय जीवन दर्शन' की अवधारणा को रेखांकित और प्रश्नांकित किया है|

"यह सच है कि द्विवेदी जी ने भारतीय समाज और हिंदी साहित्य में दूसरी(ब्राह्मणवाद विरोधी) परम्परा की खोज की और कई गैर-ब्राह्मण स्थानीय परम्पराओं को पहली बार सामने ले आये| लेकिन इन परम्पराओं को उन्होंने एक सीमा से ज्यादा महत्व कभी नहीं दिया और इसके मुकाबले ब्राह्मण धर्म की *महान परम्परा* के प्रभुत्व को हमेशा बरकरार रखा| इतिहास में भारतीय चिंता धारा के स्वाभाविक विकास का विवेचन करते हुए उन्होंने कई भिन्न-भिन्न स्थानीय सांस्कृतिक और धार्मिक समुदायों को दिखाया| लेकिन उनकी दृष्टि में 'मूल भारतीय जीवन' वेदों और ब्राह्मण ग्रंथों के आचार परम्परा का ही नाम है जिसमें भिन्न और विरोधी समुदायों के कारण समय समय पर कुछ विकार तो आते रहे हैं, लेकिन फिर भी 'मूल भारतीय जीवन' ज्यादा नहीं बदला|"[1]

इस बात को तलवार जी ने द्विवेदी जी के *कबीर पंथ का उपेक्षित साहित्य* निबंध से प्रमाणित करने की कोशिश की है| द्विवेदी जी के उस उद्धरण को प्रसंगवश यहाँ उद्धृत करना ज़रूरी है|

"पिछले दो हज़ार वर्षों में अनेक नवीन जातियों का आगमन इस देश में हुआ है| अनेक पुरानी जातियों का (जिनमें बहुत सी नवीन रूप में आर्य भाषा-भाषी बनीं थीं और पहले कभी किरात,द्रविड़ या कोल जातीय भाषाएँ बोलती थीं) अभ्युत्थान हुआ है और अनेक प्रतिभा संपन्न विचारकों का प्रादुर्भाव भी हुआ है| उनके आगमन से हमारी भाषाओं में, अभिव्यक्ति शैली में, उपासना विधियों में महत्वपूर्ण बाह्य परिवर्तन हुए हैं| उन्हें भुलाया नहीं जा सकता| मूल जीवन दृष्टि को इन संप्रदायों ने नए-नए रूपों में सजाने का प्रयत्न किया है| हठयोग और कुण्डलिनी योग पर अधिक जोर देने के कारण नवीन साधना मार्गों का प्रवर्तन हुआ है| अनेक वेद-विरोधी वामपन्थों के अभ्युदय से जीवन दर्शन और आचार परम्परा में आपात दृष्टि से एकदम भिन्न और उल्लेख योग्य परिवर्तन हुए हैं| पर सब मिला कर ये मार्ग सर्व भारतीय जीवनदृष्टि में बहुत

---

[1] वीर भारत तलवार. *सामना: राम विलास शर्मा की विवेचन पद्धति और मार्क्सवाद तथा अन्य निबंध*, पृष्ठ-१९. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली:२००५.

अधिक विकार नहीं ला सके हैं| कभी इस देश में,कभी उस प्रदेश में, एक-एक अंगों पर अधिक बल देने के कारण ऐसा लग सकता है कि बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है, पर विश्लेषण और विवेचन के ऊपरी आवरण का विमोचन होते ही मूल भारतीय जीवन-दर्शन स्पष्ट हो सकता है|"

द्विवेदी जी ने उपर्युक्त उद्धरण में कहीं नहीं लिखा है कि वेदों के दर्शन को ही वह 'मूल भारतीय जीवन दर्शन' कह रहे हैं| लेकिन तलवार जी लिखते हैं कि " यहाँ सवाल इस दृष्टिकोण की तथ्यपरकता का नहीं है| सवाल है कि वेदों के दर्शन को मूल भारतीय जीवन दर्शन मानने वाला यह दृष्टिकोण किसका हो सकता है?"[1]द्विवेदी जी के संस्कृति चिंतन को ध्यान से पढ़ने पर इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि वह वेदों को भारतीय संस्कृति और दर्शन का मूल आधार स्वीकार नहीं करते| उनके चिंतन पद्धति में संस्कृतियों की 'अविशुद्धता' की धारणा एकदम स्पष्ट है| शुद्ध और मूल की खोज उन्हें कभी भी भरमाती नहीं है| अशोक के फूल शीर्षक निबंध में इसी शुद्ध और मूल संस्कृति की परिकल्पनाओं को धत्ता बताते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है-" रवीन्द्रनाथ ने इस भारतवर्ष को 'महामानवसमुद्र' कहा है| विचित्र देश है यह ! असुर आये ,आर्य आये,शक आये,हूण आये, नाग आये, यक्ष आये, गंधर्व आये – न जाने कितनी मानव-जातियां यहाँ आयीं और आज के भारतवर्ष के बनाने में अपना हाथ लगा गयीं| हम जिसे हिंदू रीति-नीति कहते हैं,वह अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का अद्भुत मिश्रण है| ... मुझे मानव-जाति की दुर्दम-निर्मम धारा के हज़ारों वर्षों का रूप साफ़ दिखाई दे रहा है| मनुष्य की जीवनी शक्ति बड़ी निर्मम है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है| न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती-बहाती यह जीवन-धारा आगे बढ़ी है| संघर्षों से मनुष्य ने नयी शक्ति पायी है| हमारे सामने समाज का आज जो रूप है, वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है| देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बाद की बात है| सबकुछ में मिलावट है, सबकुछ अविशुद्ध है| शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा|"[2]

---

[1] वही,पृष्ठ-२०.

[2] हजारी प्रसाद द्विवेदी. *हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खंड-९*. संपादक-मुकुंद द्विवेदी, पृष्ठ-२०,२३. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली:२००७.

इस अविशुद्ध संस्कृति की बात कहने वाला क्या वेदों और ब्राह्मण ग्रंथों पर आधारित जीवनदर्शन और आचार-परम्परा को 'मूल भारतीय जीवन' कह सकता है! आर्य भाषा-भाषी लोगों और अनार्य भाषा-भाषी लोगों के बीच चलने वाले संघर्षों और आदान प्रदान के कारण निर्मित सभ्यता और संस्कृतियों की पहचान के सन्दर्भ में ब्राह्मण ग्रंथों द्वारा प्रचारित जीवन दर्शन को द्विवेदी जी ने हमेशा संदेह से ही देखा है| "संस्कृत के पुराण-ग्रंथों से हम इन आर्येतर जातियों की सभ्यता और संस्कृति का एक आभास पा सकते हैं| 'आभास' इस लिए कि वस्तुतः ये पुराण आर्य-दृष्टि से- तथापि ब्राह्मण-दृष्टि से- लिखे गए हैं और फिर बहुत पुरानी बातें होने के कारण इन बातों में कल्पना का अंश भी मिल गया है| बौद्धों और जैन अनुश्रुतियों के साथ इन पौराणिक कथाओं को मिलाने से कुछ कुछ बातें समझ में आ जाती हैं, पर यह तो हम भूल ही नही सकते कि ये अनुश्रुतियाँ भी विशेष दृष्टि से देखी हुई हैं|"[1]यहाँ तो द्विवेदी जी ब्राह्मणों के साथ साथ बौद्धों और जैनों के पाठों को भी आलोचकीय दृष्टि से देखने की बात कर रहे हैं है| शास्त्रों पर संदेह उनकी दृष्टि के मूल में हैं फिर चाहे वह ब्राह्मणों के द्वारा लिखे गए हों या फिर बौद्धों और जैनों के द्वारा| फिर 'मूल भारतीय जीवन' को ही वह वेदों और ब्राह्मणों के उच्च दार्शनिक स्थापनाओं से कैसे तय कर सकते हैं| लेकिन फिर *कबीर पंथ के उपेक्षित साहित्य* की चर्चा में ये 'मूल भारतीय जीवन दर्शन' का संदर्भ क्या है?

तलवार जी ने जो उद्धरण दिया है उसके ठीक बाद की कुछ पंक्तियों को देखने से शायद बात कुछ साफ़ हो| चलिए फिर से एक बार द्विवेदी जी के पास ही चलते हैं-

> "कभी इस देश में,कभी उस प्रदेश में, एक-एक अंगों पर अधिक बल देने के कारण ऐसा लग सकता है कि बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है, पर विश्लेषण और विवेचन के ऊपरी आवरण का विमोचन होते ही मूल भारतीय जीवन-दर्शन स्पष्ट हो सकता है| वस्तुतः बंगाल में मध्य काल में जो साहित्य लिखा गया और उन क्षेत्रों में, जिन्हें हिंदी भाषा-भाषी कहा जाता है, परस्पर इतना साम्य है कि उनकी विशेषताओं का अध्ययन दोनों

---

[1] वही,पृष्ठ-१७५.

को एक साथ पढ़े बिना हो ही नहीं सकता| मैंने बहुत पहले जोर देकर कहना चाहा था, कि हमारी भाषा का पुराना साहित्य प्रांतीय सीमाओं में बंधा नहीं है| आपको यदि हिंदी-साहित्य का अध्ययन करना है तो उसके पड़ोसी साहित्यों -बंगला, उड़िया, मराठी,गुजराती, नेपाली – आदि के पुराने साहित्य के बारे में जानना ज़रूरी है|... मुसलामानों के आने के पहले इस देश में कई ब्राह्मण-विरोधी सम्प्रदाय थे| बौद्ध और जैन तो प्रसिद्ध ही हैं| कापालिकों, लाकुल पाशुपतों, वामाचारियों आदि का बड़ा जोर था| नाथों और निरंजनियों की अत्यधिक प्रबलता थी| बाद के साहित्य में इन मतों का बहुत थोड़ा उल्लेख मिलता है| दक्षिण से भक्ति की जो प्रचंड आंधी आयी ,उसमें ये सब मत बह गए | पर क्या एकदम मिट गए? लोक चित्त पर से क्या वो एकदम झड़ गए? हिंदी, बंगला,मराठी, उड़िया आदि साहित्य के आरंभिक काल के अध्ययन से इसके बारे में बहुत कुछ जाना जा सकता है|"[1] क्योंकि " आज से कोई दस-बारह सौ वर्ष पहले जब उत्तर भारत की सभी मानव मंडलियां आर्य-भाषा भाषी हो गयीं तो उन्होंने अपनी बातें आर्य भाषाओं के माध्यम से कहना शुरू किया| उनकी बातें तत्कालीन लोक भाषा में थीं, परन्तु दुर्भाग्यवश उनका बहुत कम अंश हमारे पास तक आ सका है| देशी भाषाओं के साहित्य में, लोक कथाओं में,कहावतों में, किम्वदंतियों में और अनेक प्रकार के पारिभाषिक शब्दों में उस महान उथल-पुथल और सांस्कृतिक मिलन की कहानी प्रच्छन्न रूप में बहती चली आयी है| इस दृष्टि से हमारी देशी भाषाओं का साहित्य –लिखित और अलिखित – बहुत सी ऐसी बातों को बता सकती हैं जो उनकी वर्त्तमान परिधि और जन्मकाल से बाहर की हैं और इस प्रकार उनके अध्ययन से हम सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति को समझने की कुंजी पा सकते हैं|"

---

[1] हजारी प्रसाद द्विवेदी. *हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खंड-४.* संपादक-मुकुंद द्विवेदी, पृष्ठ-४८४-४८५. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली:२००७.

स्पष्ट है कि द्विवेदी जी का 'मूल भारतीय जीवन दर्शन' और 'संस्कृति' शास्त्रीय व्याख्याओं और आचार-ग्रंथों की बतायी गयी बातों के आवरण के नीचे सतत प्रवाहशील, स्वाभाविक, और सामान्य जीवन पद्धतियों और सामान्य बोध से निर्मित हैं | 'मूल' यहाँ कोई जड़ तत्व नहीं है बल्कि ऊपर-ऊपर की शास्त्रीय व्याख्याओं या नॉर्मेटिव टेक्स्ट से इतर लोकजीवन में व्यक्त सच्चाइयों और संघर्षों में व्यक्त होने वाला जीवन दर्शन है| इसी विवरणात्मक यथार्थ की खोज को द्विवेदी जी महत्वपूर्ण मानते हैं| इसलिए 'तथ्यात्मकता' और 'मूल जीवन दर्शन' को पहचानने वाली द्विवेदी जी की इतिहास दृष्टि हमेशा ब्राह्मण धर्म की महान परम्परा के प्रभुत्व को चुनौती ही देती है उसे बरकार नहीं रखती|

राष्ट्रवादी इतिहास लेखन के कुछ जुमले वर्तमान आलोचना में इतने बदनाम हो गए हैं कि उनको सामने पाते ही हम उनके किसी विशेष अर्थ का ही अनुमान कर लेते हैं और बाकी सारे सन्दर्भ वहाँ बेमानी हो जाते हैं| भारतीय संस्कृति और जीवन दर्शन को लेकर प्राच्यविद्याविदों और उनके राष्ट्रवादी प्रति-उत्तरों ने भी मूल वैदिक दर्शन को भारतीयता की पहचान के साथ इतना जोड़ दिया है कि जहां भी ऐसे प्रयोग दिखते हैं हम तत्काल ही उसे भी उन्हीं बने बनाए अर्थों के साथ चस्पां कर देते हैं| द्विवेदी जी के उपर्युक्त उद्धरण से निकाले गए निष्कर्ष भी ऐसे ही अनुमान और पूर्वग्रह की उपज है| द्विवेदी जी लोक भाषा के सहारे या लोक कहानियों और किम्वदंतियों या कहावतों और पारिभाषिक शब्दों के विश्लेषण से भारतीयता की शास्त्रीय निर्मितियों को चुनौती देते हैं| और इसी सन्दर्भ में वो राष्ट्रवादी इतिहास लेखन और सांस्कृतिक चिंतन से मुक्ति का रास्ता तलाश करते हैं| इस प्रयास में कहीं कहीं हमें अंतर्विरोधी टिप्पणियाँ भी देखने को मिल जाती हैं |लेकिन हमारे लिए और साहित्य इतिहास लेखन के लिए या सांस्कृतिक इतिहास लेखन के लिए वह अंतर्दृष्टि ज्यादा महत्वपूर्ण है जो देशी भाषाओं और वेद-विरोधी धर्म-मतों के वैकल्पिक स्रोतों के सहारे इतिहास की पुनर्निर्मिति और उसके बहुलतावादी पाठ का मार्ग प्रशस्त करता है| हमारे लिए वो अंतर्विरोध भी महत्वपूर्ण है जिनसे औपनिवेशिक ज्ञान-मीमांसा से मुक्त होने के क्रम में भारतीय पांडित्य को जूझना पड़ा था| भारतीय संस्कृति के आर्य मिथक के खिलाफ द्विवेदी जी का संघर्ष और भी गहरा है| वो तो

सम्पूर्ण भारतीय सौंदर्य चेतना को ही आर्येतर उपादान मानते हैं| इस 'मूल' शब्द का अर्थ इन पंक्तियों से और भी स्पष्ट होता है-

> "(इस प्रकार) **मूल में भारतीय संस्कृति** कई बलवती सभ्यताओं के योग से बनी| आर्य-द्रविड़ और यक्ष-नाग सभ्यता की त्रिवेणी से इस महाधारा का आरम्भ हुआ| बाद में अनेक सभ्य, अर्ध-सभ्य और अल्प-सभ्य जातियों की संस्कृतियाँ, धर्म मत, आचार,परम्परा और विश्वास इसमे घुलते गए | भार-ज्योतिष, जो हमारी संस्कृति के निर्माण का एक ज़बरदस्त अंग है , बहुत कुछ यवनों(ग्रीकों) , बर्बरों(बैबिलोनियनों), असुरों (असीरियनों) के विश्वास से प्रभावित है| विश्वास किया जाने लगा है कि बालगोपाल की पूजा जाटों,गुजरों और अहीरों की पूर्वज किसी घुमक्कड़ जाति की देन है| मध्ययुग की भारतीय संस्कृति एक हद तक फारस के सूफियों तथा अन्यान्य मुसलमानी पीरों के धर्म-मत से प्रभावित हुई थी| इस युग की चित्रकला, संगीतविद्या और नृत्य कला तो निश्चित रूप से आर्येतर उपादानों से समृद्ध हुई हैं|"[1]

द्विवेदी यह भी कहते हैं कि सामान्य रूप से भारतीय सभ्यता के वर्जनशीलता को देखते हुए यह विदेशी संस्कृतियों का आत्मसातीकरण विश्वास योग्य जान नहीं पड़ता | जहां हज़ारों वर्ष से एक साथ वास करनेवाली जाति के हाथ का छुआ पानी भी ग्रहणीय न समझा जाता हो, वहाँ विदेशी संस्कृति की अदला-बदली एक असंभव-सी धारणा है| 'यह कैसे मान लिया जाए कि गर्वीली आर्यजाति के वंशधरों ने उन लोगों के धर्म-विश्वास और आचार-परम्परा को भी अपनाया हो, जिसे वो अपनी भाषा सुनाने के योग्य नहीं समझते थे?' और इस विचित्र विरोधाभास के साथ संस्कृतियों की बहुल उपस्थिति को द्विवेदी जी अमेरिकी सभ्यता के 'मल्टीकल्चरिज्म' की धारणा से पृथक मानते हैं| "भारतीय संस्कृति ने भेद की इस समस्या को उस ढंग से नहीं सुलझाया जिस ढंग से अमेरिका में सुलझाया गया है| अमेरिका-प्रवासी यूरोपियों ने वहाँ के आदिम अधिवासियों को बेदर्दी के साथ कुचल दिया| उनका अस्तित्व ही

---

[1] हजारी प्रसाद द्विवेदी. *हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खंड-९*. संपादक-मुकुंद द्विवेदी, पृष्ठ-१९८-१९९. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली:२००७.

नहीं रहने दिया|"[1]यह सांस्कृतिक भिन्नता और औपनिवेशिक पश्चिम की परिभाषाओं से मुक्ति का चिंतन था| परन्तु यह भी न समझना चाहिए कि भारतीय संस्कृति की अद्वितीयता और विशिष्ट परकीयता द्विवेदी जी के लिए उत्तराधुनिक ल्योतार की भाषा में इतनी अलग और विशिष्ट है कि तुलना और संवाद के लिए कोई जगह ही ना बचे| संस्कृतियों का अनूठापन उत्तराधुनिकों के लिए केवल सम्मान की वस्तु हो गयी थी| अपने आप में पूर्ण और एक दूसरे से पृथक्| स्वायत्ता में संप्रभु और अतुलनीय| इनके लिए संस्कृतियों के बीच किसी वस्तुनिष्ठ समानता और प्रगतिशील तुलना संभव ही नहीं| उत्तर-प्रत्यक्षवादियों ने इस उत्तराधुनिक अवस्थिति और ज्ञानमीमांसा की उचित ही आलोचना की है|[2] संस्कृतियों के बीच के इस असम्वादी और निरपेक्ष स्वायत्त स्थिति के विपरीत हमें उनके बीच कुछ वस्तुनिष्ठ समानताओं और ग्रहणीय मूल्यों की संभावानाओं को खोजना ही होगा| यह उत्पीड़क-उत्पीड़ित संबंधों के बाह्य आधारों के साथ ही साथ आतंरिक उपनिवेशित संस्कृतियों के लिए भी सही है| द्विवेदी जी ने भारतीय संस्कृति की अद्वितीयता में सब कुछ को स्वीकार करने वाली या ब्राह्मण दर्शन के प्रभुत्व को मूल मानने वाली दृष्टि का विरोध किया था| वह उत्तर-आधुनिक ल्योतार और सदा से निश्चित ब्राह्मण-गैर ब्राह्मण द्विविभाजकता में जड़ मानने वाली भारतीय संस्कृति की व्याख्याओं से असहमत थे| उत्तर-प्रत्यक्षवादियों की तरह ही वह कहते हैं-

> "मैं जब 'भारतीय' विशेषण जोड़कर संस्कृति शब्द का प्रयोग करता हूँ, तो मैं भारतवर्ष द्वारा अधिगत और साक्षात्कृत अविरोधी धर्म की ही बात करता हूँ| अपनी विशेष भौगोलिक परिस्थिति में और विशेष ऐतिहासिक परम्परा के भीतर से मनुष्य के सर्वोत्तम को प्रकाशित करने के लिए इस देश के लोगों ने भी कुछ प्रयत्न किये हैं| जितने अंश में वह प्रयत्न संसार के अन्य मनुष्यों के प्रयत्नों का अविरोधी है, उतने अंश में वह उनका पूरक भी है|भिन्न-भिन्न देशों और भिन्न-भिन्न जातियों के अनुभूत और साक्षात्कृत अन्य अविरोधी धर्मों की भाँति वह मनुष्य की जययात्रा में सहायक है| वह मनुष्य के

---

[1] वही,पृष्ठ-१९९.

[2] सत्य पी. मोहंती. 'कोलोनोयल लिगेसिज़,मल्टीकल्चरल फ्यूचर्स: रिलेटीविज्म,ओब्जेक्टीविटि, एंड चैलेंजेज़ ऑफ अदर्नेस', *पी.एम.एल.ए. , वॉल-११०,न.-१* जन. १९९५. पृष्ठ-१०८-११८.

सर्वोत्तम को जितने अंशों में प्रकाशित और अग्रसर कर सका है, उतने अंश में वह सार्थक और महान् है| वही भारतीय संस्कृति है, उसको प्रकट करना, उसकी व्याख्या करना या उसके प्रति जिज्ञासा-भाव उचित है| यह प्रयास अपनी बडाई का प्रमाणपत्र संग्रह करने के लिए नहीं है, बल्कि मनुष्य की जय यात्रा में सहायता पहुंचाने के उद्देश्य से प्ररोचित है|"[1]

प्रभुत्वशाली ब्राह्मण परंपरा के साथ अन्य परम्पराओं के बीच भी ऐसे ही संबंधों की खोज ज़रूरी है| शास्त्रों को हमेशा लोकमत के विपरीत खड़ा करके देखने वाली सांस्कृतिक दृष्टि उस प्रक्रिया को समझ नहीं पाती जहां लोकमत ने प्रभुत्व को चुनौती दी थी| शास्त्रों में होने वाले परिवर्तनों को ब्राह्मण षड़यंत्र के बदले प्रतिरोध के दबाव के रूप में अध्ययन करना ज़रूरी है| तलवार जी ने यह भी आरोप लगाया है कि द्विवेदी जी को जितना उत्पीड़ित जातियों से बना लोक अपनी ओर खींचता है ,प्रभुत्वशाली जातियों से बने शास्त्र उससे कम नहीं खींचते| और द्विवेदी जी के लोकधर्म की तुलना ग्राम्शी के सबाल्टर्न से नहीं की जा सकती जैसा की नामवर सिंह ने की है| नामवर सिंह ने लोकधर्म को शास्त्र का विकल्प मान लिया है जबकि द्विवेदी जी लोकधर्म को ज्यों का त्यों शास्त्र का विकल्प नही मानते|[2]पहले हम यही देखते हैं कि नामवर सिंह ने किस प्रसंग में 'विकल्प' की चर्चा की है|

नामवर सिंह ने 'भारतीय साहित्य की प्राणधारा और 'लोकधर्म'' शीर्षक निबंध में लोक-धर्म संबंधी द्विवेदी जी के कुछ पूर्वग्रहों के उल्लेख के बाद लिखा है कि "इस पूर्वग्रह से भी अधिक महत्वपूर्ण है 'लोक-धर्म' की शक्ति का स्वीकार|" 'लोक-धर्म' के पहले द्विवेदी जी ने जो कहीं कहीं 'निकृष्ट' शब्द का प्रयोग किया है वो कोई पूर्वग्रह या संस्कारजन्य प्रयोग नहीं है और न ही उनका शास्त्र प्रेम है जैसा कि तलवार जी मानते हैं| लोक के बारे में द्विवेदी जी की दृष्टि उन लोगों से ज्यादा उपयुक्त है जो यह मान के चलते हैं कि 'लोक' में सबकुछ अच्छा-अच्छा ही है|

---

[1] हजारी प्रसाद द्विवेदी. *हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खंड*-९. संपादक-मुकुंद द्विवेदी, पृष्ठ-२०१-२०२. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली:२००७.

[2] वीर भारत तलवार.*सामना: राम विलास शर्मा की विवेचन पद्धति और मार्क्सवाद तथा अन्य निबंध*, पृष्ठ-१५ और २०. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली:२००५

ऐसे लोग 'लोक' शब्द से एक रोमैंटिक रिश्ता रखते हैं और 'लोक' शब्द को सामने पाते ही एक शुद्धतावादी क्रांतिकारिता से मोहाविष्ट हो जाते हैं| जबकि सच यह है कि लोक में जितना सर्जनात्मक प्रतिरोध और मौलिक चेतना होती है उतना ही प्रतिक्रियावादी और गैर-प्रगतिशील तत्त्व भी शामिल होते हैं| और यह प्रतिक्रियावाद हमेशा वर्चस्व कि विचारधारा के कारण नहीं होता| इसलिए जो 'लोक' में है वह कई बार 'लोक-विद्विष्ट' भी होता है| इसलिए सम्पूर्ण 'लोक-मत' से इस 'लोक-धर्म' को अलग करते हुए नामवर सिंह 'लोक-धर्म' की विशेष ऐतिहासिक और सकारात्मक भूमिका को चिह्नित करते हुए कहते हैं कि-

> "जनसाधारण के जीवन में नाना विश्वासों के रूप में जीवित इस तथाकथित 'लोक-धर्म' का महत्त्व इसमें है कि जनता के असंतोष को विद्रोह का रूप के लिए वैचारिक और भावनात्मक शक्ति की भूमिका यही अदा करता है| द्विवेदी जी के साहित्य में भक्ति आंदोलन की पूर्व पीठिका के रूप में 'लोक-धर्म' की विस्तृत चर्चा कारण यही है कि वे लोक धर्म को ही भक्ति-आंदोलन की जन्म-भूमि मानते हैं|... इस प्रकार 'लोक-धर्म' साधारण जनों के विद्रोह की विचारधारा है| 'लोक-धर्म' कहने का एक कारण तो यह है कि यह उच्चवर्गों के 'शास्त्र' के सामान सूक्ष्मातिसूक्ष्म तर्क-पद्धति से संपन्न तथा व्यापक विश्वदृष्टि के रूप में विकसित कोई सुसंगत और सुव्यवस्थित 'विचार-प्रणाली' नहीं है| दूसरा कारण यह है कि यह पूंजीवादी समाज के बीच निर्मित किसी एक सुनिश्चित वर्गचेतन वर्ग की विचारप्रणाली नहीं, बल्कि सामंती युग के असंगठित किसानों और दस्तकारों के विविध वर्गों, उपवर्गों की मिलीजुली भावनाओं का पुंज है| शास्त्रवंचित विविध दलित जातियों और जनसमूह की मानसिक अभिव्यक्ति होने के कारण इस लोकधर्म का अव्यवस्थित और अनिश्चित होना अनिवार्य है, और इसलिए उच्चवर्गों के शास्त्र की तुलना में कई बार हीनतर भी प्रतीत हो सकता है किन्तु सिर्फ इसलिए वह महत्त्वहीन नहीं हो जाता|"[1]

---

[1] नामवर सिंह. *दूसरी परम्परा की खोज*,पृष्ठ-७९-८०.राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली:२००३.

आगे वह द्विवेदी जी के 'संतमत' संबंधी विचारों को उद्धृत करते हैं| जहाँ द्विवेदी जी ने लिखा है कि सबसमय शास्त्रज्ञान तत्त्वज्ञान में सहायक ही नही होता और "कभी-कभी तो तो **उस युग की** तथोक्त नीच जातियों से आये हुए महापुरुषों का तर्क जाल से मुक्त होना श्रेयस्कर जान पड़ता है| इन संस्कारों से वंचित रहने के कारण ही ही वे सब जगह से सहज सत्य को सहज ही ले सकते थे| वे रूढियों और मिथ्या विश्वास के शिकार नहीं हुए"|[1] और इसलिए नामवरसिंह ने लिखा कि "इस प्रकार **परिस्थितिवश** शासक वर्ग की विचारधारा के प्रभाव से बहुत कुछ मुक्त रहने के कारण 'लोकधर्म' शास्त्र से हीन प्रतीत होते हुए भी उसका 'विकल्प' बनकर उपस्थित होता है|"[2](जोर मेरा)ध्यान देना चाहिए कि यह 'विकल्प' 'युग विशेष' और 'परिस्थिति विशेष' से सम्बंधित है| विद्रोह की विचारधारा के रूप में शास्त्र का विकल्प बनकर 'लोक-धर्म' किसी ऐतिहासिक क्षण में उपस्थित होता है| ऐसी परिस्थितियाँ व्यापक सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों के कारण पैदा होती है| भक्ति-काल के सन्दर्भ में इन परिस्थितियों का संकेत नामवर जी ने अपने उसी निबंध में कुछ ही पहले इरफ़ान हबीब के हवाले से किया है|| इस पूरे सन्दर्भ को न समझने से ही तलवार जी ने नामवर सिंह पर व्यर्थ खींच-तान का आरोप लगाया है| जहां तक ग्राम्शी के विचार से इसकी भिन्नता का सवाल है उसे देखने के लिए हमें ग्राम्शी के विचारों पर एक संक्षिप्त बात चीत करनी होगी| **परिस्थितिविशेष** की व्याख्या वहाँ और भी स्पष्ट है| 'विकल्प' के रूप में विद्रोह की विचारधारा की स्पष्ट द्वंद्वात्मक और ऐतिहासिक समझदारी है|

जेल में लिखे अपने 'नोट-बुक' में ग्राम्शी ने 'व्यवहार के दर्शन' की लंबी चर्चा की है| इस चर्चा में उन्होंने 'सामान्य बोध' पर विस्तार से अपनी बात रखी है|[3] 'जनसमूह में कार्यरत व्यक्ति', सामान्य कामगार दैनन्दिन कार्यों में लगा होता है| फिर भी इस दुनिया के बारे में उसकी कुछ अपनी समझदारी होती ही है| इसी दुनिया के बारे में जिसे वह अपने श्रम से

---

[1] वही.

[2] वही.

[3] एंटोनियो ग्राम्शी. *सेलेक्सनस फ्रॉम दी प्रिजन नोटबुक्स*, अनुवाद. क्युन्तिन होयरे और जयोफ्रे नोवेल स्मिथ. पृष्ठ-३२५-३४३.इन्टरनेशनल पब्लिशर,न्यू योर्क:१९७१.

बदलता रहता है|[1] लेकिन उसके पास 'अपने व्यावहारिक कार्यों को लेकर कोई साफ़ सैद्धांतिक चेतना नहीं होती'| बल्कि-

> "उसकी सैद्धांतिक समझदारी ऐतिहासिक रूप से उसके क्रिया-कलापों से भिन्न हो सकती है| कोई संभवतः कह ही सकता है कि उसकी दो सैद्धांतिक चेतनाएं (या एक अंतर्विरोधी चेतना) होती है: एक जो उसके क्रियाकलापों में अन्तर्निहित होती है और प्रकारांतर से उसे वास्तविक दुनिया के व्यावाहरिक रूपांतरण में रत अपने सभी साथी कामगारों से एक करती है; और एक जिसे वह अतीत से बिना किसी आलोचना के ग्रहण करता है और जो सतही रूप से व्यक्त और मुखर होती है|"[2]

यह अन्तर्निहित चेतना और सतही रूप से व्यक्त चेतना का अंतर्विरोध दो विरोधी सामाजिक समूहों का प्रतिबिम्बन है| कहना न होगा कि-

> " इस प्रकार इस सामजिक समूह [व्यापक जन समूह वाला एक सबाल्टर्न समूह] की इस दुनिया के बारे में अपनी धारणा होती है,चाहे वह बीज रूप में ही हो;एक धारणा जो अपने को कर्म में अभिव्यक्त करती है ,लेकिन सामयिक रूप से और कभी कभी ही, एक कौंध बनकर- जब वह समूह एक आवयविक पूर्णता से कार्य करता है| लेकिन इसी समूह की एक और धारणा होती है जो उनकी अपनी नहीं होती और अधीनस्थता या बौद्धिक अधीनता के कारण दूसरे समूह से उधार ली गयी होती है; और यह मुखर रूप से इसी धारणा को स्वीकार करता है और खुद मानता है कि इसी का अनुकरण करता है, क्योंकि 'सामान्य समय' में वह इसी के अनुसार काम करता है- अर्थात जब इनका

---

[1] यहाँ ग्राम्शी मार्क्स के *थेसिस ओन फायरबाख* के ग्यारहवें थेसिस के सन्दर्भ में दुनिया को बदलने की चेतना को दर्शन के अर्थ में ले रहे हैं| वह दुनिया को बदलने के लिए किये जा रहे श्रम की चेतन विचारधारा के अर्थ से 'सामान्य बोध' को अलग करने की कोशिश करते हैं|

[22] एंटोनियो ग्राम्शी. *सेलेक्सनस फ्रॉम दी प्रिजन नोटबुक्स*, अनुवाद. क्युन्तिन होयरे और जयोफ्रे नोवेल स्मिथ. पृष्ठ-३३३. इन्टरनेशनल पब्लिशर,न्यू योर्क:१९७१.

आचरण स्वतंत्र या स्वायत्त न हो कर अधीनता या मातहती(submissive and subordinate) में होता है|"[1]

इस प्रकार सबाल्टर्न वर्ग का 'सामान्य बोध' आतंरिक रूप से अंतर्विरोधग्रस्त और बिखरा हुआ होता है| यह सामान्य बोध द्विविधाग्रस्त,बहुआयामी और अंतर्विरोधी होता है तथा इसमे कोई परिवर्तन किसी निश्चित ऐतिहासिक प्रक्रिया में प्रभुत्वशाली और मातहत वर्गों के आपसी संबंधों के बदलाव से ही संभव होता है| 'सामान्य-बोध' के उस स्वायत्त तत्त्व को जो किसी सबाल्टर्न समूह के क्रियाकलापों में अन्तर्निहित होता है और उनके सभी सदस्यों में अपने श्रम के कारण दुनिया को बदलने के कारण होता है और "सामान्य समय"[2] में प्रभुत्वशाली वर्गों के विचारधारात्मक वर्चस्व के कारण प्रकट नही हो पाता, ग्राम्शी कई बार 'साधु-बोध'(good sense) कहते हैं|[3] 'सामान्य-बोध' के इन दो तत्त्वों के बीच नए उभरने वाले धर्म-मतों और दर्शनों के कारण हमेशा एक गतिशील अंतर्क्रिया भी होती रहती है| जब नए उभरने वाले दर्शन और धर्म मत समाज में एक खास प्रभुत्व बना लेते हैं तो फिर इनका प्रभाव सामान्य बोध के उस तत्त्व पर पड़ता है जो उधार ली गयी होती है| हर दार्शनिक धारा और धर्म-मत की छाया और उसके कुछ अवशेष सामान्य-बोध का हिस्सा बनते चलते हैं| और इस प्रकार सामान्य बोध या 'लोक-मत' ऐतिहासिक रूप से रूपांतरित होता चलता है और खुद को विचारों और दर्शनों से समृद्ध भी करता चलता है| इस प्रक्रिया में कई बार लोकमत की अन्तर्निहित धारणा एक ज्यादा सुसंगत विश्वदृष्टि पाने का प्रयास करती है| ग्राम्शी ने सामन्य बोध को 'दर्शन का लोकगीत'(फोकलोर ऑफ फिलोसोफी) कहा है|[4]सामान्य बोध भविष्य के लोकगीतों के निर्माता

---

[1] वही,पृष्ठ-३२७.

[2] *"Normal Times": as opposed to the exceptional (and hence potentially revolutionary) moments in history in which a class or group discovers its objective and subjective unity in action.(pp.327)*

[3] *"Philosophy is criticism and superseding of religion and "common sense". In this sense it coincides with "good" as opposed to "common sense"."(pp.326)*
"...Overcoming bestial and elemental passions through a conception necessity which gives a conscious direction to one's activity. This is the healthy nucleus that exist in "common sense", the part of it which can be called "good sense" and which deserves to be made more unitary and coherent"(pp.328)

[4] *"Every social stratum has its own 'common sense' and its own 'good sense', which are basically the most widespread conception of life and of man.* ***Every philosophical current leaves behind a sedimentation of***

होते हैं| जो किसी खास देश-काल में लोकप्रिय ज्ञान का ज्यादा बद्ध(रिजिड) चरण होता है| यहाँ ग्राम्शी न केवल सामन्य बोध या लोक-मत के ऐतिहासिक प्रक्रम को रेखांकित कर रहे है बल्कि लोकगीतों के स्वरुप और उनके इतिहास के अध्ययन का भी सूत्र हमारे सामने रख रहे हैं|

नयी धार्मिक और दार्शनिक धाराएँ प्रभुत्वशाली और अधीनस्थ वर्गों के संघर्ष से अछूती नही रहती| इन वर्गों के बीच किसी खास ऐतिहासिक क्षण में 'परिस्थितिवश' जब संघर्ष एक खास गतिशीलता प्राप्त कर लेता है तो सामन्य बोध का स्वायत्त तत्त्व अपनी उपस्थिति पुरजोर तरीके से अभिव्यक्त करने लगता है| यह श्रम में अन्तर्निहित धारणा की उधार ली गयी धारणा पर एक विजय होती है| यह श्रम करने वालों की परिस्थितियों में हुए एक आधारभूत परिवर्तन के कारण संभव होता है और जिसके फलस्वरूप उनकी स्थिति में आयी सापेक्षिक स्वतन्त्रता उनके सामान्य बोध के स्वायत्त तत्त्व को एक आत्मविश्वास से भर देती है| जब-जब ऐसी स्थिति आती है समाज के संकट(क्राइसिस) की अभिव्यक्ति समाज के दो भिन्न विश्वासों,दो भिन्न धर्मों और दो भिन्न विश्व-दृष्टियों में बँट जाने के डर में होने लगती है| ऐसी ही परिस्थिति में 'लोक-धर्म' शास्त्र का 'विकल्प' बन कर सामने आती है| और तब नए धर्मों और दर्शनों का फिर से बनना और अपने को पुनर्व्यवस्थित किया जाना शुरू होता है, ताकि पूरे सामाजिक व्यवस्था में फिर से एक विचारधारात्मक एका बनाया जा सके| यह या तो नए आधारों पर ज्यादा प्रगतिशील हो सकता है या फिर अपनी खोई हुई सत्ता को फिर से पाने की कोशिश में पुराने आधार की तरफ पुनरागमन हो सकता है|[1] संत-भक्ति के ज्यादा स्वायत्त और 'अनुभवसम्मत

***"common sense"**. This is the document of its historical effectiveness. Common sense is not something rigid and immobile, but is continually transforming itself, enriching itself with scientific ideas philosophical opinions which have entered in ordinary life. **'Common sense' is the folklore of philosophy**, and is always half-way between folklore properly speaking and the philosophy, science and economics of the specialist. **Common sense creates the folklore of the future, that is a relatively rigid phase of popular knowledge at a given place and time**"(pp-326) (emphasis mine)*

[1] मध्युगीन धर्मविरोधी आंदोलनों और चर्च के विशेष सन्दर्भ में ग्राम्शी ने इस प्रक्रिया को कुछ यूँ व्यक्त किया है-*"In the past such divisions in the community of the faithful were healed by strong mass movements which led to ,or were absorbed in, the creation of new religious orders centered on strong personalities (St Dominic, St Francis)... The heretical movements of the Middle Ages... represented a split between masses and intellectuals within the church. The split was 'stitched over' by the birth of popular religious movements subsequently reabsorbed by the Church through the formation of the mendicant orders and a new religious unity"*(pp331 and 331n). भारत में चूँकि चर्च जैसी कोई केंद्रीय सत्ता नहीं थी और न ही धर्म ठीक रीलिजन, इस लिए यहाँ नयी धार्मिक व्यवस्था का स्वरुप ठीक उसी तरह नहीं रहा जैसा यूरोप में बना था| अतः सगुण भक्ति के चरित्र पर बात

विवेकवाद' का धीरे-धीरे भक्ति के ज्यादा शास्त्रीय और वर्चस्व की विचारधारा में पर्यवसन ऐसी ही एक प्रक्रिया थी| इस प्रक्रिया का पहला चरण निश्चित रूप से लोक-धर्म का शास्त्र के विकल्प के रूप में सामने आना था|

धर्म की ऊपर-ऊपर की एकता भी केवल भ्रम होती है| भक्ति युगीन वैष्णव धर्म भी कहन को ही एक ही था| न केवल उसके भीतर अनेक अंतर-धाराएँ थीं बल्कि वह समाज के भिन्न वर्गों के लिए भिन्न-भिन्न था| किसानों का वैष्णव धर्म एक था, कारीगरों का दूसर तो पंडितों का तीसरा| दरअसल सम्प्रदाय विशिष्ट वैष्णव धर्म की खोज औपनिवेशिक दौर में हुई थी| फिर यह भी मान लिया गया कि जो वैष्णव नहीं होगा वह अनिवार्य रूप से वैष्णवों का विरोधी ही होगा| बहुअस्मिताओं के साथ भी जिया जा सकता है यह पश्चिमी चिंतन के लिए अस्वीकार्य था और फलस्वरूप भक्ति आंदोलन और वैष्णव धर्म सम्बन्धी राष्ट्रवादी चिंतन भी वैसा ही सोचने लगा| " कबीर वैष्णव को अपना राम सरीखा संगी कह सकते थे, क्योंकि उनके वक्त में वैष्णव होने का अनिवार्य अर्थ गौड़ीय संप्रदाय का सदस्य, पुष्टिमार्ग का पथिक या स्मार्त मत का अनुयायी होना नहीं था| वैष्णव शब्द को इन सम्प्रदाय-सापेक्ष अर्थ में सीमित किया उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के ज्ञान-कांड ने| कबीर के समय में तो खुद को न हिंदू न मुसलमान कहने वाले, पौराणिक मान्यताओं का खंडन करने वाले रामानंद वैरागी भी वैष्णव कहे जाते थे और सभी अवतारों की उपेक्षा कर, "मनेर मानुस" की साधना करने वाले बाउल भी"[1] और द्विवेदी जी ध्यान दिलाते हैं कि विद्यापति के शैव होने और राधाकृष्ण के गीत लिखने को देख कर लोगों को इसीलिए आश्चर्य होता है क्योंकि वे उस युग के बोध को समझ ही नहीं पाते|

करते हुए इस भिन्न सन्दर्भ को ध्यान में रखना चाहिए| साथ ही दसवीं से चौदहवीं सदी तक होने वाले परिवर्तनों की क्षेत्रीयता और उसके पार-क्षेत्रीय मुहावरों को भी ध्यान में रखना चाहिए| नए वैष्णव धर्म को चर्च की एकता कारी धार्मिक विचारधारा के रूप में लेने से भारी भूल की संभावना है| अकारण नही कि इस नीचे से बनते वैष्णव धर्म को द्विवेदी जी ने लोक-धर्म ही माना था| यह निश्चित है की इस प्रक्रिया में चलने वाले वर्चस्व और अधीनस्थता की प्रक्रियायों को उनके खास सामजिक वर्गों के सन्दर्भ में द्विवेदी जी नही देख पाए थे|
इस प्रक्रिया की विशेष चर्चा बंगाल वैष्णव स्कूल के सन्दर्भ में पार्था चटर्जी ने भी की है| देखें पार्था चटर्जी. ' 'कास्ट एंड सबाल्टर्न कांसलेस', *सबाल्टर्न स्टडीज VI: रायटिंगस ओन साउथ एशियन हिस्टरी एंड सोसाइटी, एडी. बाइ रंजीत गुहा*,पृष्ठ-१६९-२०९. ओ.यु.पी., नई दिल्ली:१९८९.

[1] देखें, पुरुषोत्तम अग्रवाल. *अकथ कहानी प्रेम की:कबीर की कविता और उनका समय.* पृष्ठ-१८४.राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली: २०१०.

इसलिए चेतना के साथ धर्म के रिश्तों का अध्ययन एक ही धर्म-मत के विभिन्न रूपों के बीच की भिन्नता को ध्यान में रख कर किया जाना चाहिए| धर्मों के आतंरिक अंतर्विरोध समाज के विभिन्न वर्गों के लिए भिन्न-भिन्न अर्थ रखते हैं| एक ओर धर्म की एक प्रवृति समाज के लिए सार्वभौम नैतिक आचारसंहिता बनाने की कोशिश करती है और दूसरी ओर इस सार्वभौमिक संहिता के वर्चस्व के नकार की प्रक्रिया भी चलती रहती है| और महत्वपूर्ण यह है कि विभिन्न सामाजिक समूहों में प्रचलित धार्मिक विश्वासों और आचार प्रक्रियाओं से उन अन्तर्निहित तत्त्वों को सामने लाना चाहिए जो धर्म के उन रूपों में वर्चस्वशाली रूप के विरोध में होते हैं| वस्तुतः द्विवेदी जी मध्ययुगीन धर्म-साधनाओं के इतिहास को लिखते समय यही काम कर रहे थे| उन प्रतिरोधी तत्त्वों की पहचान के कुछ संकेत ग्राम्शी ने किये थे| प्रत्यक्ष अनुभव को महत्व देना, 'खास हद तक "प्रयोगात्मकता" और यथार्थ का सीधा अन्वेषण, हालांकि आनुभविक और सीमित'.[1]ये सब विशेषताएँ द्विवेदी जी ने संतों के यहाँ दिखलायी है| फिर भी जिन आलोचकों को लगता है कि सामान्य-बोध संबंधी ग्राम्शी के चिंतन के सन्दर्भ में द्विवेदी जी के 'लोक-धर्म' को देखना बेकार है उनके बारे में क्या कहा जाये! और परिस्थितिविशेष में विद्रोह की 'विचारधारा'[2]के बारे में 'लोक-धर्म' के विकल्प को समझकर द्विवेदी जी अपने समय के मार्क्सवादियों से तो आगे थे ही ऐसा लगता है कि उनका लोक-चिंतन आज के कुछ ठेठ मार्क्सवादियों से अब भी आगे का है और इतिहास तथा संस्कृति के ज्यादा गहरे अर्थों को उद्घाटित करने की सामर्थ्य रखता है|

लोक-साहित्य और लोक संस्कृति पर द्विवेदी जी ने अलग से भी कुछ विचार किया है| प्रसंगवश यहाँ उन विचारों पर एक सरसरी नज़र डाल लेनी चाहिए| इससे उनके लोक संबंधी चिंतन पर कुछ और प्रकाश पड़ सकता है| अपने निबंध 'लोक साहित्य का अध्ययन' में द्विवेदी जी ने 'लोक', 'लोक-साहित्य' और 'लोक संस्कृति' जैसे पदों पर विचार करते हुए उनके अध्ययन के महत्त्व और उसकी विधि और उसकी कठिनाईयों पर लंबी बात चीत की है| उन्होंने ध्यान

---

[1] ग्राम्शी,वही,पृष्ठ-३४८.

[2] इस विचारधारा के बारे में रंजीत गुहा ने अपने लेख 'स्वर्ग में और धरती पर एक प्रतिईश्वर का जीवनवृत्त' में विशेष चर्चा की है. देखे *निम्नवर्गीय प्रसंग १*. संपादक- शाहिद अमीन, ज्ञानेंद्र पाण्डेय. राजकमल, दिल्ली:२००७.

दिलाया है कि हमारे यहाँ उपनिवेश काल से पूर्व लोक संस्कृति और लोक साहित्य का कोई पृथक और स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है| प्राचीन ग्रंथों में 'लोक' और 'वेद' या 'लोक' और 'शास्त्र' का भेद तो स्वीकार किया गया था लेकिन उनकी किसी अलग संस्कृति या पृथक साहित्य की चर्चा वहाँ नहीं है| पुरानी पोथियों में आचार्यों ने "विद्वानों द्वारा अनुशीलित और गुरु-शिष्य परंपरा से प्रचारित परिष्कृत ज्ञान और आचरण को 'शास्त्रीय' कहा है और जनसाधारण के व्यावहारिक ज्ञान और अल्प परिष्कृत परम्परा लब्ध आचरण को 'लौकिक' कहते थे|" सामान्य जन-जीवन से सम्बंधित होने के कारण लौकिक आचार प्रत्यक्ष और यथार्थ होते हैं| नाट्यशास्त्र में 'नाट्यधर्मी' और 'लोकधर्मी' प्रवृतियों का उल्लेख मिलता है| नाट्यधर्मी प्रवृतियाँ परिष्कृत रुचि के लोगों में रूढ़ि रूप में स्वीकृत(कन्वेंशनल) नियम होते थे जबकि लोकधर्मी प्रवृतियाँ साधारण जनता में व्यवहृत आचार-परम्परा (रियलिस्टिक) होती थी| द्विवेदी जी ने कहा कि इस प्रकार लोक और शास्त्र का अंतर ज्ञान और आचार के क्षेत्र के साथ-साथ रसानुभूति के क्षेत्र में भी मान्य हो गया था|

'लोक' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा कि " 'लोक' शब्द का अर्थ 'जनपद' या 'ग्राम्य' नही है बल्कि नगरों और गाँव में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं ये लोग नगर के परिष्कृत रुचिसंपन्न सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचिवाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जिला रखने के लिए जो भी वस्तुएं आवश्यक होती हैं उनको उत्पन्न करते हैं|"[1]

इस प्रकार द्विवेदी जी के लिए लोक वस्तुतः उत्पादक वर्ग है और जो सरल है, अकृत्रिम है और परिष्कृत ज्ञान-दर्शन और आचार से दूर है| इनके ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं| परन्तु बहुत कुछ पुरानी पोथियों से छन कर इन तक पहुंचता रहा है| "क्योंकि शास्त्रीय चिंतन धारा यहाँ बराबर लोक-विश्वासों को प्रभावित करती रही है|"[2]इस प्रकार द्विवेदी जी का 'लोक' बहुत

---

[1] हजारी प्रसाद द्विवेदी. 'लोक साहित्य का अध्ययन'; *इंद्रप्रस्थ भारती वर्ष-१९, अंक-१:जनवरी-मार्च २००७.*पृष्ठ-१०१.
[2] वही,पृष्ठ-१०३.

हद तक ग्राम्शी के 'श्रमरत मानव समूह', 'सबाल्टर्न' से साम्य रखता है| और व्यावहारिक और प्रत्यक्ष ज्ञान ही इनका 'सुच्छम वेद' है| इनका व्यवहारिक ज्ञान अंतर्विरोध रहित नहीं होता यह हमने ग्राम्शी के हवाले से ऊपर देखा था| स्पष्टतः द्विवेदी जी ने लोक चेतना की वैसी व्याख्या नहीं की है जैसा ग्राम्शी के यहाँ मिलता है| लेकिन उन्होंने 'लोक' को कभी अनैतिहासिक तरीके से भी नही देखा| 'लोक' और 'शास्त्र' के बीच एक ऐतिहासिक अंतर्संबंध बना चला आया है| 'लोक' का शास्त्र में रूपांतरण और फिर 'शास्त्र' से लोक तक आना एक जटिल ऐतिहासिक प्रक्रिया है और जो लोग जड़ शब्दावलियों में इतिहास को बद्ध देखते हैं उनकी समझ में इस प्रक्रिया के गंभीर निहितार्थ नहीं अंट पाते| लोक साहित्य तो और भी नहीं|

> " वस्तुतः आजकल हम जिस श्रेणी के साहित्य को लोक साहित्य कहते हैं वह सारा-का-सारा पुराने आचार्यों द्वारा न तो कभी उपेक्षित ही समझा गया था और न उस सारे-के-सारे साहित्य को जिसे हम लोक-साहित्य नहीं कहते कभी शास्त्रीय और समादर योग्य ही माना गया था|"

इस लिए लोक साहित्य का अध्ययन एक जटिल काम है| औपनिवेशिक काल से पूर्व और खास कर तथाकथित मध्यकाल में 'लोक' और 'शास्त्र' की विभाजक रेखा कई बार धुंधली होती आयी है| कब, कहाँ और कितना लोक से छन कर शास्त्र में गया और कितना शास्त्र से लोक में यह पता लगाना बहुत मुश्किल है| सभ्यता और संस्कृति के 'विकास' के बाहर पड़े 'आदिम' जातियों की जीवन पद्धतियों ,उनके विश्वासों,मिथकों, कथाओं से हम कई बार पुराने काव्य रूपों और सांस्कृतिक परिवर्तन के चिह्नों का अनुमान कर पाते हैं| वैसे ही लोक में प्रचलित कहावतों, गीतों, निजंधरी कथाओं, नृत्य शैलियों, नाट्य रूपों आदि से पुरानी परम्पराओं का संकेत मिलता है| औपनिवेशिक दौर में जहां एक ओर ज्ञान के विशेषीकरण को प्रोत्साहित किया और 'लोक' तथा 'शास्त्र' जैसे अध्ययन के प्रवर्गों का निर्माण किया वहीं उनके अध्ययन को भी एक निश्चित फ्रेम में जड़ कर दिया| इसलिए इनपर होने वाले शोधों में एक संवर्ग के रूप में 'लोक' भी जड़ सा हो गया| कहने का मतलब है कि जैसे 'परम्पराओं' और 'सामजिक वर्गों' को औपनिवेशिक दस्तावेजीकरण ने एक नियत स्वरुप प्रदान किया है वैसा ही कुछ 'लोक' के साथ

भी हुआ है| इसलिए 'शास्त्र' और 'लोक' के अंतर्संबंधों को भी औपनिवेशिक फ्रेम से मुक्त होने की ज़रूरत है| द्विवेदी जी के यहाँ मुक्ति का यह प्रयास है| इसलिए भी वो 'लोक' और 'शास्त्र' की ज्यादा सटीक व्याख्याएं कर पाए हैं| जब वह 'शास्त्र' का अध्ययन करने बैठते हैं तो 'उच्चशास्त्रीयता' के ठेठ अर्थों को थोड़ी देर के लिए किनारे कर देते हैं| या यूँ कहें कि 'शास्त्रीयता' के औपनिवेशिक पाठों का निषेध करते हैं | और ऐसा करते हुए उनका ध्यान 'शास्त्रों' के भीतर होने वाले नवोन्मेषों की ओर जाता है| इन नवोन्मेषों की व्याख्या करते हुए वह 'लोक' तक पहुँचने की कोशिश करते हैं| ऐसा ही वह अभिजात साहित्य के अध्ययन में भी करते हैं| अध्ययन के क्रम में वो ठेठ इतिहास से लेकर काव्यात्मक सौंदर्य तक में होने वाले नवोन्मेषों को रेखांकित और व्याख्यायित करते चलते हैं| और साथ-साथ नवोन्मेषों को भी किसी ऐतिहासिक संगति तक पहुंचाने की कोशिश करते हैं| इस प्रकार उनके साथ इतिहास, काव्य,सौंदर्यबोध और संस्कृति साथ-साथ चलती है| और जहां कड़ियाँ ठीक-ठाक मिलती-जुड़ती नहीं वहाँ अपने 'गप्पों' का सहारा लेकर सर्जना और पुनर्सर्जना में जुट जाते हैं|

'लोक' का 'शास्त्रीकरण' और साहित्य में उनका व्यापक अभिग्रहण भक्ति-काल की अनन्य विशेषता है| और अकारण नहीं कि द्विवेदी जी संतों के साहित्य को लोक साहित्य ही मानते हैं| और उस दौर को ध्यान मे रखने के कारण वैष्णव धर्म को 'लोक-धर्म'| उस वक्त के वैष्णव धर्म का स्वरुप वही नहीं रह गया था जो आठवीं या नौवीं शताब्दी तक था| यह नीचे से बनने वाला वैष्णव धर्म था| कई स्थानीय धर्म-पद्धतियों का एक पार-क्षेत्रीय मुहावरे के रूप में 'वैष्णव' संज्ञा से अभिहित किया जाना उस दौर के लिए वही अर्थ नहीं रखता जैसा कि प्राच्याविद्याविदों ने 'वैष्णव-धर्म' को उसके कुछ नोर्मेटिव ग्रंथों के आधार पर औपनिवेशिक दौर में प्रोजेक्ट किया था|'वैष्णव-धर्म' की राष्ट्रवादी समझदारी भी बहुत हद तक औपनिवेशिक ही थी| लेकिन द्विवेदी जी एच.एच.विल्सन, अलबर्ट वेबर, लौरिंसर,मॉनिर विलियम्स, और ग्रियर्सन आदि से प्रभावित होने के बावजूद 'वैष्णव-धर्म' की उनकी व्याख्याओं से मुक्त होने की कोशिश करते हैं| और इस प्रयास के मूल में थी 'लोक' संबंधी उनकी अपनी दृष्टि|

लोक-साहित्य के अध्ययन को वह साहित्य के इतिहास के लिए भी बहुत ज़रूरी समझते थे| और इसके सुनिश्चित उपयोग तथा उपयोग की एक वैज्ञानिक पद्धति को लेकर भी चिंतित थे|

> "यद्यपि 'लोक-साहित्य'- विशेष कर के आदिम जातियों का साहित्य- दीर्घकाल से यूरोप के विद्वानों का चित्त मंथन कर रहा है| और उसके परिचय से यूरोपीय मनीषा ने कई महत्वपूर्ण सिद्धांत स्थिर किये हैं परन्तु कुछ आश्चर्य की ही बात कही जानी चाहिए कि इस विपुल लोक 'साहित्य' का कोई उपयोग दीर्घकाल तक अभिजात साहित्य के समझाने में नहीं किया गया|...अभिजात साहित्य के काव्यरूपों, अलंकृत कथाओं, निजंधरी कथाओं की कथानक-रूढियों और व्यंजक अभिप्रायों को समझने के लिए इनका बहुत कम उपयोग हुआ है|...गंभीरता के साथ अध्ययन किया जाये तो हमारे सभी काव्यरूपों के मूलभूत रूप लोक साहित्य में खोजे जा सकते हैं| या कम से कम सामान्य 'अभिप्रायों' का पता आसानी से लग सकता है| अनुन्नत आदिम जातियों के विश्वासों के अध्ययन से उन्नत समझी जाने वाली जातियों के अनेक पौराणिक आख्यानों का रहस्य प्रकट होता है और कई बार क्रमबद्ध दर्शनों के मूलभूत विचार भी आसानी से समझ में आ जाते हैं|...यूरोप ने पहली बार बड़े आश्चर्य से देखा कि संसार की परस्पर विछिन्न नाना जातियों में प्रचलित आदिम विश्वासों और उनपर आधारित संस्कृतियों की उपरली सतह पर जितनी भी विविधताएं क्यों न हो, मूल में सर्वत्र एक ही 'अभिप्राय' या 'मोटिफ' काम कर रहे हैं|...साहित्य के इतिहास लेखकों ने केवल लिखित और लिखित ग्रंथों में उल्लिखित साहित्य के आधार पर ही साहित्यिक विचारधारा और काव्यरूपों के विकास का इतिहास लिखा है| इसमे तो कोई संदेह ही नहीं कि हमारे आधुनिक अध्येताओं की दृष्टि में क्रमविकास के रूप में विचारों और काव्य-रूपों के

अध्ययन की महत्ता प्रतिष्ठित हो चुकी है परन्तु उस दृष्टि से अभी भी साहित्य का मूल्यांकन और विकास का अध्ययन नहीं किया गया है|"[1]

कहना न होगा कि इस नयी दृष्टि से साहित्य के अध्ययन की कोशिश हिंदी में हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ही की थी| और इस मामले में वह न केवल हमारे अग्रदूत थे वरन वैश्विक मनीषा के साथ-साथ चलने की कोशिश भी कर रहे थे| पचास के दशक में 'संरचनावाद' का जोर अध्ययन के हर क्षेत्र में बढ़ने लगा था| संरचनावाद के प्रभाव में लोक-मिथकों, लोक-विश्वासों आदि के अध्ययन में नयी तेज़ी आयी थी| प्रॉप ने रूसी लोक-कथाओं के अध्ययन से आख्यान के संरचनात्मक अध्ययन का एक नया मार्ग खोल दिया था| सन १९२८ में उनकी किताब 'मोर्फोलोजी ऑफ दी फोकटेल' रूसी भाषा में आई थी लेकिन १९५८ में जब उसका अंग्रेजी अनुवाद आया तब जाकर पश्चिमी दुनिया में उनकी चर्चा शुरू हुई| रूसी रूपवादियों ने आख्यान की संरचना में 'अभिप्रेरकों' के अध्ययन को बड़ी महत्ता दी थी| फिर लेविस्त्रास 'संरचनावादी नृविज्ञान' की नींव रखते हुए मिथकों के संरचनात्मक अध्ययन के सहारे मानव-मस्तिष्क की आधारिक संरचना की पड़ताल करते हैं| साहित्यिक इतिहासों और अध्ययनों पर भी देर-सवेर इसका प्रभाव पड़ा और ज़बरदस्त पड़ा| लेकिन यह सुखद संयोग ही था कि इस बौद्धिक आंदोलन से दूर और अनभिज्ञ द्विवेदी जी लगभग उसी समय कथा, आख्यायिका, चरित काव्यों और ऐतिहासिक आख्यान काव्यों आदि के संरचनात्मक अध्ययन के सहारे 'पृथ्वीराज रासो' के मूल रूप का पता लगाने की कोशिश कर रहे थे| इस तुलना को ज्यादा खींचना न तो ज़रूरी है और न ही काम्य| ज़रूरी है यह नोट करना कि इतिहास के लिए, साहित्यिक ग्रंथों की प्रामाणिकता के लिए जिस प्रकार द्विवेदी जी ने एक संरचनात्मक अध्ययन की नींव रखी थी दुर्भाग्यवश हिंदी की मनीषा ने उन पर ध्यान न दिया| और अकारण नहीं कि फ्रेंच साहित्यिक चिंतन की जो परम्परा इतनी समृद्ध चली आयी है उस तरीके का विकास हिंदी में नहीं हो पाया| पद्धतिगत नवीनता और नयी दृष्टि का यह उन्मेष जो द्विवेदी जी के लोक चिंतन का

---

[1] वही,पृष्ठ-११६-१२०.

परिणाम थी आज भी हिंदी साहित्य इतिहास लेखन के लिए उतनी ही महत्वपूर्ण है और साथ ही रोचक भी|

३.३ कथा,आख्यायिका और ऐतिहासिक चरित काव्य: काव्य की संरचना और काल की बुनावट.

'हिंदी-साहित्य का आदिकाल' के अपने तीसरे और चौथे व्याख्यान में द्विवेदी जी ने कथा, आख्यायिका, चरित काव्यों आदि की संरचना के सहारे 'रासो' के मूलरूप के निर्धारण का प्रयास किया है| यहाँ कथा/ आख्यायिका की संरचना और साहित्यिक विशेषताओं के निर्धारण को इतिहास लेखन की कुछ समस्यायों के निवारण का आधार भी बनाया गया है| इतिहास लेखकों के लिए लंबे समय तक ऐतिहासिक चरित काव्यों के साथ इतिहास की संगति बिठाना बहुत मुश्किल होता रहा था| औपनिवेशिक काल में इतिहास की जो धारणा हमारे यहाँ आई थी वह तथ्यपरकता और घटनाओं की वस्तुनिष्ठता को अतिशय महत्व देने वाली और तथ्य को ही सत्य मान लेने वाली प्रत्यक्षवादी इतिहास दृष्टि थी| इस लिहाज से औपनिवेशिक ज्ञान-मीमांसा ने यह दावा किया कि भारत में 'इतिहास'-लेखन की कोई परम्परा ही नहीं थी| अन्य 'उपहारों' की तरह 'इतिहास-लेखन' भी एक नयी चीज़ है और जो औपनिवेशिक सत्ता ने हमें उपहार में दिया है| आगे इस औपनिवेशिक दावे को चुनौती देने की कोशिश में हमारे यहाँ के विचारकों ने अतीत से प्रमाण इकट्ठे करने शुरू किये और यह साबित करना चाहा कि भारत में भी बहुत प्राचीन काल से 'इतिहास' लेखन होता आया है| और इस प्रकार राष्ट्रवादी इतिहास लेखन ने 'प्रत्यक्षवादी' इतिहास की कसौटी पर अपने प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य को कसना शुरू किया|(यह इतिहास दृष्टि 'सांप्रदायिक' भी थी क्योंकि इस खोज में सल्तनत और मुग़ल काल के 'इतिहास-लेखन' को एक सिरे से नज़रअंदाज़ किया गया था|) 'ऐतिहासिक चरित-काव्यों' में इतिहास की खोज इसी राष्ट्रवादी चिंतन की परिणति थी| इतिहास की उस 'आधुनिक' धारणा से द्विवेदी जी का भी विरोध न था| लेकिन उन्होंने अन्य राष्ट्रवादियों की तरह ही "हमारे यहाँ तो सब कुछ पहले से ही है" वाली दृष्टि को भी स्वीकार नहीं किया| 'इतिहास' की प्रत्यक्षवादी या विधेयवादी धारणा और उसकी प्रयोजनमूलकता(टीलियोलोजी) से उनका भी इनकार न था

और भरसक इसी कसौटी पर उन्होंने अपने इतिहास लेखन को भी बरतने की कोशिश की है| लेकिन अन्य राष्ट्रवादियों की तरह उन ऐतिहासिक चरित काव्यों में इतिहास ढूंढना उन्हें स्वीकार न था| उन्होंने लिखा कि इन काव्यों से इतिहास की सामग्री तो प्राप्त की जा सकती है इतिहास नहीं|

> "उनसे आप इतिहास के शोध की सामग्री संग्रह कर सकते हैं, पर इतिहास को नहीं पा सकते| इतिहास जो जीवंत मनुष्य के विकास की जीवन-कथा होता है, जो काल-प्रवाह से नित्य उद्घाटित होते रहनेवाले नव-नव घटनाओं और परिस्थितियों के भीतर से मनुष्य की विजय यात्रा का चित्र उपस्थित करता है, और जो काल के परदे पर प्रतिफलित होने वाले नए-नए दृश्यों को हमारे सामने सहज भाव से उद्घाटित करता रहता है|"[1]परन्तु "इस देश में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थों में कभी नहीं लिया गया| बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथानायक बनाने की प्रवित्ति रही है| कुछ में दैवी शक्ति का आरोप करके पौराणिक बना दिया गया है; जैसे राम, बुद्ध, कृष्ण आदि और कुछ में काल्पनिक रोमांस का आरोप करके निजन्धरी कथाओं का आश्रय बना दिया गया है; जैसे उदय, विक्रमादित्य और हाल| जायसी के रतन सेन, और रासो के पृथ्वीराज में तथ्य और कल्पना का- फैक्ट्स और फिक्शन- का अद्भुत मिश्रण हुआ है| कर्मफल की अनिवार्यता में, दुर्भाग्य और सौभाग्य की अद्भुत शक्ति में और मनुष्य के अपूर्व शक्ति-भंडार होने में दृढ विशवास ने इस देश के ऐतिहासिक तथ्यों को सदा कल्पना के रंग में रंगा है| यही कारण है कि जब ऐतिहासिक व्यक्तियों का भी चरित्र लिखा जाने लगा, तब भी इतिहास का कार्य नहीं हुआ| अंत तक ये रचनाएँ काव्य ही बन सकीं इतिहास नहीं| फिर भी, निजंधरी कथाओं से वे इस अर्थ में भिन्न थीं कि उनमें बाह्य तथ्यात्मक जगत से कुछ-न-कुछ योग अवश्य रहता था| कभी-कभी मात्रा में भी कमी-बेशी तो हुआ करती थी, पर योग रहता अवश्य था|"[2]

---

[1] हजारी प्रसाद द्विवेदी. *हिंदी साहित्य का आदिकाल*, पृष्ठ-७८.

[2] वही,पृष्ठ-७७

संभावना और कल्पना के अद्भुत योग से 'इतिहास' के क्षीण ढाँचे में ये ऐतिहासिक काव्य लिखे गए थे| यह 'काल-बोध' का भारतीय स्वरुप था| एक बात गौर करने की है कि क्या आधुनिक इतिहास लेखन अपने आख्यान में कल्पना और संभावना के मिश्रण से सचमुच मुक्त है? हमने पहले अध्याय में 'आख्यान और इतिहास के संबंधों पर चर्चा के दौरान देखा था कि मात्रागत भेद के साथ, आधुनिक इतिहास के वस्तुनिष्ठ अतीत के प्रयोक्ता होने की दावेदारी के बावजूद, वह कल्पना और संभावना से पूरी तरह मुक्त नहीं है| इसलिए 'इतिहास' होने के भेद को समझाने के लिए 'काल की बुनावट' (टेक्सचर ऑफ टाइम)[1] को समझना ज़रूरी है| कल्पनाश्रित चरित काव्यों के संभावना मूलक कथानकों में भी 'काल' एक खास बुनावट के साथ उपस्थित है| द्विवेदी जी की 'आधुनिक इतिहास-दृष्टि' इतिहास के सम्बन्ध में तो उस 'बुनावट' को 'काव्य' की ही मानते हैं परन्तु खुद 'काव्य' के इतिहास के भीतर 'काल' की उस बुनावट के सहारे 'रासो' जैसे ग्रंथों के प्रामाणिक और मूल रूप की खोज का प्रयास करते हैं| इस प्रकार द्विवेदी जी के यहाँ इतिहास की 'आधुनिक' धारणा के भीतर ही उसका निषेध भी मिलता है| और यह दृष्टि हमारे लिए बहुत उपयोगी है| अकारण नहीं कि उनके उपन्यासों के रूप प्राचीन कथा/आख्यायिका वाली है| यह 'काल' का एक भिन्न ऐतिहासिक बोध भी है- ठेठ इतिहास के काल बोध से अलग|

हमारे 'काल-बोध' से ही हमारी सर्जना में 'काल की बुनावट' तय होती है| औपनिवेशिक आधुनिकता के साथ जिस पश्चिमी काल बोध को हमने आयत्त किया था उसी के सहारे हमारे यहाँ इतिहास और साहित्य में 'काल की बुनावट' तय हुई थी| लंबे समय तक 'यथार्थवाद' में व्यक्त 'काल की बुनावट' उस प्रत्यक्षवादी, वस्तुनिष्ठ और रेखीय 'काल-बोध' से निर्धारित होती रही| इस काल-बोध के सहारे रचे गए आख्यानों का स्वरुप भी 'यथार्थवादी' रहा चला आया है| और इसलिए आख्यान के भीतर के अभिप्रेरक(मोटिफ) भी 'यथार्थ' की समझदारी के गिरफ्त में रहे चले आये हैं| हमारे विवेच्य काल का 'काल-बोध' इस 'आधुनिक' काल बोध से अलग था|

---

[1] दक्षिण भारत के 'काव्यों' में काल की इस बुनावट को समझने की कोशिश इधर हाल में की गयी है| अपने भिन्न सन्दर्भ के बावजूद वह मध्यकालीन चरित काव्यों को पढ़ने की नयी दृष्टि देता है| यद्यपि प्रत्यक्ष उद्देश्य वहाँ 'इतिहास-लेखन' के स्वरुप का निर्धारण ही है| देखें.वेल्चेरू नारायण राव, डेविड शुल्मान, संजय सुब्राह्मण्यम. *टेक्सचरस ऑफ टाइम: राइटिंग हिस्टरी इन साउथ इंडिया १६००-१८००*.इनट्रोडक्सन ,पृष्ठ-१-२३. परमानेंट ब्लैक,नई दिल्ली:२००१.

वह काल-बोध 'वस्तुनिष्ठ' और रेखीय नहीं था| वहाँ यथार्थ और कल्पना, यथार्थ और संभावना, पृथक नहीं थे| इसलिए उनके 'आख्यान' में भी 'काल की बुनावट' यथार्थवादी नहीं थी| इसलिए उनके मोटिफ भी यथार्थ नहीं संभावना के अभिप्रेरक के रूप में थे| जैसे बहुत सारे यथार्थवादी मोटिफ भी रूढ़ हो गए हैं वैसे ही आलोच्यकाल के आख्यान काव्यों में सम्भावानामूलक अभिप्रेरक रूढ़ हो गए थे| यही कथानक रूढ़ियाँ थीं|ये कथानक रूढ़ियाँ एक तरफ तो 'काल-बोध' सापेक्ष थीं और मूलतः सम्भावना मूलक थीं वहीं दूसरी ओर उनका निश्चित सांस्कृतिक सन्दर्भ हुआ करता था| भिन्न सांस्कृतिक सन्दर्भों के लेखकों के पास इन रूढ़ियाँ की भिन्न परम्परा होती थी| द्विवेदी जी ने इन अभिप्रेरकों की एक सूची दी है| और इनके सहारे उस काल के कथा, आख्यायिकों और चरित काव्यों की संरचना को समझने का प्रयास किया है|

आमतौर पर मोटिफ को कथानक का सबसे छोटा खंड माना जाता है| कथा/आख्यायिकाओं में प्रयुक्त अभिप्रेरक/मोटिफ कथा को नया मोड़ प्रदान करता है| ये अभिप्रेरक कई बार एक पूरी कहानी होते हैं| लोक कथाओं में प्रचलित ऐसी रूढियों का कथा काव्य में प्रयोग कथा के प्रसंग को एक विशेष अर्थ प्रदान कर देता है और पाठकों के चित्त में कथानक की स्वीकार्यता और उसका अर्थ दोनों स्पष्ट होता चलता है| " धीरे-धीरे ऐसे अनेक कथात्मक प्रतीकों के संयोग से कथात्मक टाइप बन जाते है|"[1] इन कथात्मक-टाइप में भी संभावनाओं पर ही ध्यान दिया जाता है| शुक अगर थोडा-बहुत मानव वाणी का अनुकरण कर सकता है तो ज्यादा भी कर सकता है| अब इस शक्ति को खुद से बढ़ा हुआ दिखाने में कुछ अड़चन आ रही है तो किसी ऋषि के वरदान से तो ऐसा हो ही सकता है| फिर पतित गंधर्वों को ऋषि-मुनि शाप देते आये हैं इसलिए हो सकता है ये सुआ भी पिछले जन्म में को गन्धर्वरहा हो और इसलिए पूर्व-जन्म के संस्कार से वह बोल भी सकता है और कला-मर्मज्ञ भी हो सकता है| फिर कला-मर्मज्ञ है तो रूपवती रानी के कला और सौंदर्य की विषद चर्चा किसी राजा से कर सकता है और राजा उस रानी को पाने के लिए घर-बार छोड़ कर तत्क्षण निकल सकता है| इस प्रकार कथात्मक-मोटिफ के कई सारे प्रकार एक दूसरे से जुड़े चलते हैं और कथानक-प्रधान

---

[1] देखें नामवर सिंह. *हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योगदान.* पृष्ठ-२५६. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली:२००२.

लोक-कथाओं से अलंकृत काव्य में भी समय समय पर इनका उपयोग किया जाता रहा है| कई रूढ़ियाँ समय के साथ इतिहास में अस्वीकृत भी होती चली आई है और कई नयी बनती आयी हैं| ये मोटिफ और मोटिफ्स की श्रृंखला काव्य में अतिरंजनाओं को भी स्वीकार्य बनाती हैं| रूसी रूपवादी जिन्हें 'बाह्य-मोटिवेशन'[1] कहते थे इन चरित काव्यों के रचयिता उन्हें भी अतिरंजित रूप में पेश करते थे और रचना के आतंरिक मोटिवेशन पर ही उनका विशेष ध्यान रहता था| 'बाह्य-मोटिवेशन' की ऐतिहासिक तथ्यपरकता अपनी अतिरंजना में कथानक रूढ़ियों से मिल कर समूची रचना की एक ऐसी संरचना बनाती है जहां पाठक अपने खास साहित्यिक संस्कृति के प्रभाव में और लोक-परम्परा के सहज बोध से लगातार एक तारतम्य बनाए चलता है|

विधाओं की निश्चित संरचनाएं होती थीं और उनमे इन रूढ़ियों के प्रयोग की भी एक निश्चित परिपाटी बन गयी थी| कोई जैसे ही अपनी रचना को कथा कहता था उसे 'कथा' की संरचना संबंधी रूढ़ियों का पालन भी करना होता था| रासोकार ने भी अपनी रचना को 'कीर्तिकथा' कहा गया है| फिर वह चरित काव्य भी था और उसका काव्य रूप 'रास' का था| इस आधार पर द्विवेदी जी आलन्कारिकों भामह-दंडी आदि के हवाले से तथा उस समय की प्रामाणिक रचना कीर्तिलता की संरचना को ध्यान में रखते हुए मूल रासो को 'शुक-शुकी' संवाद के रूप में होने की बात तक पहुंचते हैं तथा इस संरचनात्मक अध्ययन के बाद इन की साहित्यिक दृष्टि से भी परीक्षा करते है और 'रस के निर्वाह', 'अलंकारों की योजना' और 'खल निंदा' जैसी परिपाटियों को भी रचना की संरचना में गुंथा होना अनुमान करते हैं| इस प्रकार उनकी दृष्टि में रासो 'रसमय अलंकार युद्ध बद्ध कथा' थी| इस स्थापना पर ही उन्होंने रासो के प्रामाणिक पाठ का निर्धारण किया था| यह बात सही है कि इस आधार पर भी हम सही सही नहीं कह सकते कि सारे प्रक्षिप्तों को पहचान ही लिया जाएगा, क्योंकि प्रक्षिप्त करने वाले भी इन रूढ़ियों के पालनकर्ता हो सकते हैं| लेकिन जिस पद्धति का उपयोग द्विवेदी जी ने किया है उसकी महत्ता से इनकार संभव नहीं|

---

[1] देखें गोपीचंद नारंग. *संरचनावाद अत्तर-संरचनावाद एवं प्राच्य काव्य शास्त्र*, पृष्ठ-७२. साहित्य अकादमी, नई दिल्ली:२००४.

उपसंहार

हिंदी साहित्य का आरम्भ पहले तो 'मुसलमानों' के 'आक्रमण' की प्रतिक्रिया में होना बताया गया| इस 'प्रतिक्रियावादी' इतिहास दृष्टि के विरोध में जो इतिहास सामने आया उसने 'मुसलमानों' के आगमन के 'प्रभाव' को 'चार आने' का बताया| हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन और आलोचन दृष्टि में एक तीसरा कोण आया जब 'भाषा और समाज' के अंतर्संबंधों की व्याख्या करते हुए 'खड़ी बोली' हिंदी को तथा ब्रज ,अवधी,तथा हिंदी की अन्य 'बोलियों' के विकास को 'लघु-जनपदों' के बनने से जोड़ते हुए यह साबित किया गया कि तुर्कों के आगमन से यहाँ कोई 'युग परिवर्तन' नहीं हुआ तथा सामाजिक विकास की सामंती अवस्था में ही 'वे खप गए' और इस प्रकार हिंदी भाषा सामंतवाद के भीतर होने वाले व्यापारिक पूंजीवाद और लघु जनपदों के निर्माण से ही सम्बंधित है तुर्कों का इसमे कोई विशेष योगदान नहीं है| इस प्रकार तुर्क सत्ता और एक भिन्न सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के द्वारा हिंदी की साहित्यिक संस्कृति के सम्बन्ध को उचित ऐतिहासिक महत्व न मिल सका| जबकि हमने देखा कि किस प्रकार संस्कृत (प्राकृत/अपभ्रंश) की सार्वत्रिक संस्कृति को विस्थापित करके उत्तर भारत की भाषाओं में साहित्यिक अभिव्यक्तिओं को प्रोत्साहन तुर्क सत्ता और 'मुसलमान' कवियों के द्वारा ही मिला| इस नयी व्यवस्था ने ही उस उत्प्रेरक की भूमिका निभाई जिसने उत्तर भारत में अवरुद्ध 'देश्यभाषाकरण' की प्रक्रिया को मुक्त किया| दक्षिण भारत में देश्यभाषाकरण की प्रक्रिया पहले ही हो चुकी थी उत्तर भारत में देर से हुई| इस बात को रामविलास जी उत्तर और दक्षिण भारत के सामंतवाद के चरित्र में उपस्थित बुनियादी भेद से जोड़ते हैं| भारतीय इतिहास में सामंतवाद की व्याख्याएं अत्यंत जटिल और विवादास्पद रही हैं| इसलिए रामविलास जी की इस स्थापना के साथ वो सारी जटिलताएं भी जुड़ी हैं, विवाद भी जुड़े हैं| लेकिन इस दिशा में शोध की आवश्यकता है| जैसे राज्यसत्ता के स्थानीकरण और संस्कृतियों के क्षेत्रीकरण की प्रक्रिया और राज्य सत्ता के बदलते

स्वरुप की व्याख्याएं देश्यभाषाकरण की प्रक्रिया को समझने में योगदान करती हैं वैसे ही 'सामंतवाद' के चरित्र में होने वाले परिवर्तन भी इस प्रक्रिया को समझाने में मददगार हो सकते हैं| लेकिन इनसे तुर्क सत्ता और उसके साथ बने सांस्कृतिक-राजनैतिक स्पेस की महत्ता कम नहीं हो जाती|

ग्राम्शी ने बहुत पहले कहा था कि संस्कृतियों की तरह भाषाओं में भी *Parthenogenesis* नहीं होता है| लेकिन हमारे यहाँ लंबे समय तक भाषाओं के इतिहास को इसी तरह से समझा गया है| इस समझदारी के निर्माण में उन्नीसवीं सदी के ऐतिहासिक भाषा विज्ञान का बड़ा योगदान था| अपभ्रंश से हिन्दी की आधुनिक भाषाओं के उद्भव की व्याख्या इसी मान्यता के अनुसार होती आई थी| *'हिंदी के विकास में अपभ्रंश के योगदान'* पर चर्चा के दौरान भी 'परवर्ती अपभ्रंश में हिंदी के बीज' ढूंढे गए और कहा गया कि 'आधुनिक भाषाओं का उदय और विकास अपभ्रंश के ही गर्भ में धीरे-धीरे सैंकड़ों वर्षों से होता आ रहा था', और 'अपभ्रंश ने अपने गर्भ से अनेक स्वतंत्र क्षेत्रीय भाषाओं को जन्म दिया'| जबकि अपभ्रंश के रूपों में काल क्रम से जो भेद लक्षित किये गए हैं, जो तीन चरण बताए गए हैं, पूर्ववर्ती- परिनिष्ठित-परवर्ती/अवहट्ठ, उनके पीछे लगातार देशी भाषाओं के दबाव ने काम किया है| जिस अपभ्रंश की आगे बढ़ी हुई भाषा से हिंदी के उद्भव की बात की जाती है वह 'उद्भव' नहीं बल्कि हिंदी और अन्य देशी भाषाओं के द्वारा अपभ्रंश को विस्थापित करना था| वह 'देश्यभाषाकरण' की प्रक्रिया का दबाव था जहाँ अपभ्रंश की अर्द्ध-सार्वत्रिकता को चुनौती मिल रही थी| इसलिए सही इतिहास-दृष्टि *'अपभ्रंश के विकास में हिन्दी का योगदान'* ढूँढने की होनी चाहिए|

हिंदी साहित्य के इतिहास को क्रम-भंगों के रूप में नहीं देखा गया है, जबकि इस भाषा के साहित्य का आरंभ ही इतिहास में एक क्रम-भंग है| 'देश्यभाषाकरण' की एक प्रक्रिया ने हज़ार इसवी के आसपास सम्पूर्ण यूरेशिया में संस्कृत और लैटिन की सार्वत्रिक संस्कृति को विस्थापित करके देशी भाषाओं के साहित्यिक अभिव्यक्ति को सुनिश्चित किया| हिंदी साहित्य के इतिहास का आरंभ इसी व्यापक प्रक्रिया के हिस्से के बतौर हुआ| इस प्रक्रिया में हिंदी साहित्य के आरम्भ की कुछ अपनी विशेषताएं हैं| 'देश्यभाषाकरण' की पहली अवस्था जिसे शेल्डन

पोलक 'सार्वत्रिक देश्यभाषाकरण' कहते हैं, हिंदी में उसका लगभग अभाव है| और यह अपने शुरुआत के साथ ही राज्याश्रय के बाहर हो गयी, सचेत रूप से| दूसरा, राज्याश्रय के बाहर यह लोकप्रिय 'भक्ति' आंदोलन के सहारे मजबूत हुई जिसमे 'धार्मिक' प्रेरणा कहीं न कहीं काम कर रही थी| शेल्डन पोलक 'देश्यभाषाकरण' में धार्मिक कारकों का निषेध मानते हैं| उस दूसरे चरण में भी जिसे वह 'स्थानीय देश्यभाषाकरण'कहते हैं| इस प्रकार राज्य सत्ता के क्षेत्रीकरण और संस्कृतियों और धार्मिक-मतों के स्थानीकरण की जिस जटिल प्रक्रिया का सम्बन्ध 'देश्यभाषाकरण' से है उसमें 'धर्म' के लोक-पक्ष और और उस लोक-पक्ष का उस वक्त एक ट्रांस-लोकल मुहावरा धारण करना हिंदी क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण है| इस पक्ष की ओर द्विवेदी जी ने विशेष ध्यान दिया है और जिसे पोलक स्वीकार नहीं करते|

द्विवेदी जी ने ग्राम्य-अपभ्रंश को देश भाषा कहा है और उसमे मिलने वाले पदों, दोहों को लोक-साहित्य| भाषा की दृष्टि से भले ही ग्राम्य-अपभ्रंश को देश भाषा न कहा जाए लेकिन संवेदना की दृष्टि से और अपनी सरल-सहज-सरस मनोवृति के निदर्शन के कारण ग्राम्य-अपभ्रंश की रचनाएँ अभिजन साहित्यिक संस्कृति से बहुत दूर और कभी-कभी विरोधी भी हैं| इसी कारण द्विवेदी जी का उनमें अदम्य आकर्षण है| यह उस इतिहास दृष्टि के अनुकूल ही है जो हिंदी साहित्य के उद्भव को 'भारतीय पांडित्य का लोक की ओर झुकना' से जोड़ कर देखती है|

द्विवेदी जी की इतिहास दृष्टि विवरणात्मक रही है| इसलिए अतीत के नॉर्मेटिव ग्रंथों के आधार पर ही इन्होनें इतिहास की व्याख्या का प्रयास नहीं किया| जबकि शुक्ल जी की इतिहास दृष्टि नॉर्मेटिव थी| यहाँ 'साहित्य' 'संस्कृत बुद्धि', 'संस्कृत वाणी' और 'संस्कृत हृदय' से परिभाषित है| अपनी विवरणात्मक दृष्टि के कारण ही द्विवेदी जी भारतीय संस्कृति और इतिहास की लोक-परक व्याख्या में प्रवृत्त होते हैं| राष्ट्रवादी इतिहास लेखन की सीमाओं से मुक्ति का प्रयास करते हैं| भक्ति आंदोलन के मूल में लोक-धर्म की महत्ता को रेखांकित कर पाते हैं| लोक और शास्त्र की संश्लिष्ट अंतर्क्रियायों को इतिहास में देख पाते हैं| इसी अंतर्दृष्टि के कारण उनका इतिहास अतीत की अनेकार्थताओं के प्रति खुला होता है| 'मध्यकालीन' साधना-पद्धतियों तथा 'मध्यकालीन बोध' के स्वरुप को समझाने की उनकी कोशिश में 'मध्यकाल' का जो चित्र

हमारे सामने उपस्थित होता है वह अधिकांश में 'डायलौजिक' है| ऐसा लगता है कि 'मध्यकाल' का कोई बाख्तियन 'कार्निवाल' हो! शुक्ल जी का इतिहास इस अर्थ में नितांत 'मोनोलोजिक' है| इतिहास में शुक्ल जी का अपना एकालाप!

लोक-साहित्य के अध्ययन के ही क्रम में उनकी दृष्टि 'अभिप्रेरकों'(मोटिफ) की ओर जाती है और इस अंतर्दृष्टि के सहारे वह कथा/आख्यायिकाओं आदि की संरचना का अध्ययन करते हैं| रासो के मूल रूप का पता लगाने के लिए उन्होंने उसके संरचनात्मक स्वरुप का निर्धारण किया था| शिष्ट या अभिजन साहित्य के अध्ययन में 'लोक-साहित्य' के अध्ययन की ज़रूरत को रेखांकित करने वाले वह हिंदी के शायद पहले विद्वान थे| आदिकालीन हिंदी-साहित्य के अध्ययन के लिए इस अंतर-दृष्टि का शायद ही फिर कभी गंभीर उपयोग हुआ है| यह स्थिति हिंदी साहित्य के इतिहास लिए खेदजनक है|

ग्रन्थ सूची

आधार ग्रन्थ

हजारी प्रसाद द्विवेदी. *हिंदी साहित्य का आदिकाल*, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना:१९८०

सहायक ग्रन्थ (हिंदी)

आचार्य रामचंद्र शुक्ल. *हिंदी साहित्य का इतिहास*, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली:२००९.

आर. पिशेल. *प्राकृत भाषाओं का व्याकरण*, अनुवादक-डॉ हेमचंद्र जोशी, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना:१९५८.

आर्नल्ड हाउजर. *कला का इतिहास दर्शन*, अनुवादक-गोपाल प्रधान, ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली: २००१.

ई.पी.चेलीशेव. *भारतीय साहित्य की समस्याएं*, अनुवाद एवं संपादन-केवल गोस्वामी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली:१९८७.

किशोरीदास वाजपेयी. *हिंदी शब्दानुशासन*, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी: संवत् २०२३.

गणपति चंद्र गुप्त. *हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास* (प्रथम खंड और द्वितीय खंड), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद:२००७.

जोसेफ स्तालिन. *मार्क्सवाद और भाषाविज्ञान की समस्याएं*, परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ:२००२.

डेविड एन. लॉरेंज़न. *निर्गुण संतों के स्वप्न*, अनुवादक- धीरेन्द्र बहादुर सिंह; श्रृंखला संपादक-पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली:२०१०.

पुरुषोत्तम अग्रवाल. *अकथ कहानी प्रेम की:कबीर की कविता और उनका समय.* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली: २०१०.

फ्रान्चेस्का ऑर्सीनी. *हिंदी का लोकवृत्त(१९२०-१९४०),* अनुवादक-नीलाभ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली:२०११.

माताप्रसाद गुप्त. *रासो साहित्य विमर्श,* साहित्य भवन, इलाहबाद:१९६२.
-राउरवेल और उसकी भाषा, इलाहबाद:

मु. वरदराजन. *तमिल साहित्य का इतिहास,*अनुवादक-एम्.शेषन्, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली:१९९४.

हजारी प्रसाद द्विवेदी.*हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास,*.राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली:२००३.
-*हिंदी साहित्य की भूमिका* ,राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली:२००६.
-*हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली(ग्यारह खण्डों में).* संपादक-मुकुंद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली:२००७.

रवीन्द्रनाथ टैगोर, *रवीन्द्रनाथ के निबंध* (खंड-२),अनुवादक- अमृत राय, साहित्य अकादमी, नईदिल्ली:२००९.

राम विलास शर्मा. *हिंदी जाति का साहित्य,* राजपाल एंड संज, दिल्ली:१९८६.
-*भाषा और समाज,* राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली:२०१०.
-*आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना,* राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली:१९९६.
-*भारतीय साहित्य की भूमिका,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली:१९९६.
-*इतिहास दर्शन,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली:१९९५.
-*भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएं,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली: १९८६.
-*ऐतिहासिक भाषा विज्ञान और हिंदी भाषा,* संपादक-राजमल बोरा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली: २००१.

रोमिला थापर. *पूर्वकालीन भारत:आरम्भ से १३०० ई. तक* (अनु. आदित्य नारायण सिंह), हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय. दिल्ली: २००९.

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र. *हिंदी साहित्य का अतीत: आदिकाल-भक्ति-काल*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली: १९९४.

सुकुमार सेन. *बाङ्ला साहित्य का इतिहास*, अनुवादक-निर्मला जैन, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली:२००४.

सुधा सिंह(संपादक). *मध्यकालीन साहित्य विमर्श*, आनंद प्रकाशन, कलकत्ता:२००४.

सुनीति कुमार चाटुर्ज्या . *भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली:२००४.

सुमन राजे. *हिंदी साहित्येतिहास (आदिकाल)*, ग्रंथम,कानपुर:१९७६.
-*हिंदी साहित्य का आधा इतिहास*,भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली:२००६.

सुरेन्द्र चौधरी. *इतिहास: संयोग और सार्थकता*, संपादक-उदय शंकर, अंतिका प्रकाशन,नई दिल्ली:२००९.

नलिनविलोचन शर्मा. *साहित्य का इतिहास दर्शन*, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना:१९६०.

नामवर सिंह. *हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योगदान*, लोकभारती प्रकाशन,इलाहाबाद:२००२.
- *दूसरी परम्परा की खोज*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली:२००३.
- *इतिहास और आलोचना*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली:२००६.
- *पृथ्वीराज रासो: भाषा और साहित्य*, राधाकृष्ण पब्ल., नई दिल्ली: १९९७.

डॉ. देवीदत्त शर्मा. *भाषिकी और संस्कृत भाषा*, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़...

डॉ. भोलाशंकर व्यास. *प्राकृतपैङ्लम्: भाषा शास्त्रीय और छन्दःशास्त्रीय अनुशीलन*, प्राकृत-ग्रन्थ-परिषद् ग्रंथांक- ४,प्राकृत ग्रन्थ परिषद् , वाराणसी: १९६२.

डॉ. शिवप्रसाद सिंह. *कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा*. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली:२००९.
-*सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य*. हिंदी प्रचारक प्रतिष्ठान,वाराणसी:१९७७.

मैनेजर पाण्डेय. *साहित्य और इतिहास दृष्टि*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली:२००५.

वीर भारत तलवार.*सामना: राम विलास शर्मा की विवेचन पद्धति और मार्क्सवाद तथा अन्य निबंध*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली:२००५.

गोपीचंद नारंग. *संरचनावाद उत्तर-संरचनावाद एवं प्राच्य काव्य शास्त्र*, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली:२००४.
-*अमीर खुसरो का हिन्दवी काव्य*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली:२००२.

सहायक ग्रन्थ और लेख.(अंग्रेजी)

Abercrombie, Nicholas, Stephen Hill, and Bryan S. Turner.1984. *The Dominant Ideology Thesis*. London: George Allen & Unwin.

Ali, Daud.1999. *Invoking the Past: The Uses of History in South Asia*. Delhi: OUP.

Alam, Muzzafar and Subrahmanyam, Sanjay.2008. *Indo-Persian Travels in the Age of Discoveries*. Delhi: OUP.

Anderson, Perry. 1976/77. "The Antinomies of Antonio Gramsci." *New Left Review* 100:5-80.
_1974. *Lineages of the Absolutist State*.London: Verso.

Bakhtin, M.M. 1981. *The Dialogic Imagination: Four Essays*. Austin: University of Texax Press.

Bourdieu, Pierre. 1990. "Reading, Readers, the Literate, Literature." In *In Other Words: Essays towards a Reflexive Sociology*. Standford: Standford University Press.

Bhagavat Purana. 1971. Sanskrit Text with an English Translation by C. L Goswami. Gorakhpur: Gita Press.

Bhandarkar, R. G.1965. *Vaisanavism, shaivism and Minor Religious Systems*.Varanasi: Indological Book House.

Bayly, Susan. 1999. *Caste, Society and Politics in India from the Eighteenth Century to the Modern Age.* Cambridge: Cambridge University Press.

Chakrabarty, Dipesh. 2000. *Provincializing Europe: Postcolonial Thought and Historical difference.* Princeton: Princeton University Press

Chatterjee, Partha.1998. *The Partha Catterjee Omnibus*. Delhi: OUP.

Chattopadhyaya, Brajadulal. 2005. *The Making of Early Medieval India.* Delhi: OUP.

Chattopadhyaya, Debiprasad.2001. *What is Living and What is Dead in Indian Philosophy*. Delhi: PPH.

Crane, R.S. 1972. *Critical and Historical Principles of Literary History.* Chicago: University of Chicago press.

De, Sushil Kumar. 2006. *History of Sanskrit Poetics*. Delhi: Oriental Book Centre.

Dirks, Nicholas B. 2010. *Castes of Mind: Colonialism and The Making of Modern India*. Delhi: Permanent Black.

Dube, Saurabh. 1992. "Myths, Symbols and Community: Satnampanth of Chattisgarh." In *Subaltern Studies VII: Writing on South Asian History and Soci*ety, edited by Partha Chatterjee and Gyan Pandey. Delhi: OUP.

Dube, Saurabh and Banerjee, Ishita. 2008. *From Ancient to Modern: Religion, Power and Community in India.* Delhi: OUP.

Eagleton, Terry. 1983. *Literary Theory: An Introduction.* Oxford: Blackwell.

Gold, Daniel. 1992. "What the Merchant-Guru Sold: Social and Literary Types in Hindi Devotional Verse." *Journal of American Oriental Society* 112, no.1: 22-35.

Gramsci, Antonio. 1971. *Selections from the Prison Note Books*. Tr. Quintin Hoare and Geoffrey Nowell Smith. New York: International Publisher.

Guha, Ranjit. Ed. 1994. *Subaltern Studies VI: Writing on South Asian History and Society*. Delhi: OUP.
_2002. *History at the Limit of World History*. Columbia: Columbia University Press.

Habib, Irfan.2010. "Braj Bhum in Mughal Times", in *Papers from The Aligarh Historians Society; Indian History Congress: 70th Session*, Delhi University, Delhi. Ed. Irfan Habib.292-308.
_ 2010. *Essayes in Indian History: Towards a Marxist Perception*. Delhi: Tulika.

_and Raychudhuri, Tapan.(Ed.) 1984.*The Cambridge Economic History of India, Vol. I c.1200- c.1750*. Delhi: Orient Longman.

Hawley, John Stratton. 1988. *Songs of the Saints of India*. New York: OUP.

Jhaveri, Mansukhlal.1978. History of Gujarati Literature. New Delhi: Sahitya Akademi.

Kosambi, D.D. 2005. *Myth and Reality*.Bombay: Popular Prakaashan.

Kulke Hermann (Ed.). 1997. *The State in India: 1000-1700*. Delhi: OUP.

Lorenzen, David N.1981. "The Kabir Panth: Heretics to Hindus." In *Religious Changes and Cultural Domination*, edited by David N. Lorenzen. Mexico: El Colegio de Mexico.
_ 1983. "The Life of Sankaracarya" In *Experiencing Siva: Encounters With a Hindu Deity,* edited by Fred W. Clothey and J. Bruce Long, 155-75. Columbia, Mo: South Asia Books.
_ 2000.Tradition of Non-cast Hinduism: The Kabir- Panth" in *'Who Invented Hinduism: Essays on Religion in History'*, ,New Delhi: Yoda Press.

_1987. "The Social Ideologies of Hagiography: Sankara, Tukara and Kabir." In *Religion and Society in Maharastra, edited by Milton Israel and N.K.*

Wagile, 92-114. Toronto: University of Toronto, Centre for South Asian Studies.

Mittal, Prabhudayal. 1974. *Brij ke Dharma- Sampradayon ka Itihaas.* New Delhi: National Publishing House.

Mohanty, Satya.P. 1995. 'Colonial Legacies, Multicultural Futures: Relativism, Objectivity, and Chalenges of Otherness', in *P.M.L.A., vol. 110, no.1, Jan.*

Mukta, Parita. 1996. "Mira among the Subordinated Communities in Rajasthan." In *Bhakti Religion in North India: Community Identity and Political Action.* Edited by David N. Lorenzen. New Delhi: Manohar.

Perkins, David.1992. *Is Literary History Possible.* Baltimor and London: The John Hopkins University Press.

Pollock, Sheldon. 2006. *The Language of The Gods in The World of Men: Sanskrit Power and Culture in Premodern India*; University of California Press, Permanent Black.

Radhakrishanan, S.1996. *Indian Philosophy.* Delhi: OUP.

Raziuddin Aquil and Partha Chatterjee (Ed.). 2010. *History in the Vernacular.* New Delhi: Parmanent Black.

Richman, Paula.(ed.). 1994. *Many Ramayanas: The Diversity of a Narrative Tradition in South Asia.* Delhi: OUP.

Schomer, Karine, and W.H. McLeod, eds.1987.*The Sants: Studies in a Devotional Tradition of India.* Delhi: Motilal Banarsidas.

Sircar, D.C., 1996. *Indian Epigraphy.* Delhi: Motilal Banarsidas.

Solomon, Richard. 1998. Indian Epigraphy: A Guide to the Study of Inscriptions in Sanskrit, Prakrit and other Indo-Aryan Languages. New York.

Thapar, Romila.2000. *History and Beyond.* Delhi: OUP.

Velcheru Narayan Rao, David Shulman, Sanjay Subrahmanyam. 2001. *Textures of Time: Writing History in South India 1600-1800.* New Delhi: Parmanent Black.

Weber, Max.1958. *The Religion of India: The Sociology of Hinduism and Buddhism.* Translated and edited by Hans H. Gerth and Don Martindale. New York: The Free Press.

Wellek, Rene. 1982. "The fall of Literary History" in *The attack on Literature and Other Essayes*. Chappel Hill: University of North Carilona Press.